TEXT PROBLEM
WITHIN THE
BOOK ONLY

TEXT FLY
WITHIN THE
BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY
OU_186246
UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 335 K29S Accession No. G. H. 394

Author केला, भगवान दास

Title समाजवाद, साम्यवाद और सर्वोदय

This book should be returned on or before the date last marked below.

सर्वोदय ग्रन्थमाला—संख्या ६

समाजवाद, साम्यवाद और सर्वोदय

[मानव प्रगति में खासकर आधुनिक समाज-व्यवस्थाएँ]

लेखक
'सर्वोदय अर्थशास्त्र' और 'मानव संस्कृति' आदि
के रचयिता
भगवानदास केला

प्रकाशक
भारतीय ग्रन्थमाला, दारागंज, इलाहाबाद

दूसरा संस्करण] सन् १९५४ [मूल्य, बारह आने

निवेदन

मनुष्य के सामने सदा ही कुछ समस्याएँ रहती हैं। आज दिन भारत में, और थोड़ी-बहुत संसार के और भी कितने ही देशों में अर्थ-व्यवस्था, समाज-व्यवस्था तथा राज्य-व्यवस्था असंतोषजनक है। खास बात यह है कि पिछली शताब्दी में विज्ञान तथा मशीनों की सहायता से ऐसी स्थिति हो गयी है कि एक ओर कुछ आदमी शरीर श्रम न करके भी बहुत अधिक पैसे वाले हो जाते हैं, तथा दूसरी ओर बहुत से आदमी दिन-रात कड़ी मेहनत करते हुए भी बहुत ही गरीबी का जीवन बिताते हैं; और चाहे सरकार इन गरीबों को राहत पहुँचाने का प्रयत्न करती है, राज्य के आदमियों में विषमता बनी ही रहती है। पैसे वालों को अपनी सम्पत्ति सुरक्षित रखने और बढ़ाने की चिन्ता सताती रहती है, और निर्धन आदमी अपनी भूख-प्यास और सरदी-गरमी मिटाने की फिक्र में ही मर-मिटते हैं। उन्हें जीवन में कुछ रस नहीं। पूँजीवादी युग ठहरा। हर एक जरूरत पैसे से पूरी होती है। आदमी जैसे-बने पैसे का संग्रह करना चाहता है। बिना पैसे उसकी समाज में कोई प्रतिष्ठा नहीं, कुछ पूछ ही नहीं। इस प्रकार समाज में घोर अशान्ति और असंतोष है कलह और संघर्ष है। इस स्थिति में सुधार करने के लिए तरह-तरह के उपाय किये गये, पर उनसे बहुत कम और क्षणिक ही सफलता मिली।

विचारक अपने विचार देते ही रहते हैं, उनसे विचारधाराएँ बनती हैं और पीछे वाद के रूप में सामने आती हैं। प्रत्येक वाद अपने समय की समस्याओं को हल करने का दावा करता है। पर कौनसा वाद सब जगहों में, अथवा किसी खास परिस्थिति में, समाज की सब या अधिकाँश समस्याओं को सुलझा सकेगा, इसका निश्चय एकदम नहीं हो सकता। वर्षों और कभी-कभी तो पीढ़ियों का समय लग जाता है। इस बीच में जिसे जो वाद अच्छा लगता है, उसे वह यथा-सम्भव मान्यता देता है।

वर्तमान काल में सर्वसाधारण के सामने जिन वादों की विशेष चर्चा होती है उनमें से मुख्य समाजवाद (तथा उसके भेद) और साम्यवाद हैं। फासिस्टवाद और नाजीवाद बहुत धूम-धाम से उपस्थित हुए थे, पर जल्दी ही ठंडे पड़ गये। पिछले कुछ वर्षों से महात्मा गाँधी के विचारों और कार्यों ने भारतीय जनता का ही नहीं, संसार के दूसरे देश वालों का भी ध्यान आकर्षित किया। इस प्रकार 'गाँधीवाद' ने महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। पर महात्मा जी ने बारबार आग्रह किया और चेतावनी दी कि मेरे नाम से कोई वाद न चलाया जाय। उनकी विचारधारा सर्वोदय के नाम से प्रचलित हुई। अभी तक संसार के बहुत से हिस्सों में पूँजीवाद का ही दौरदौरा है, पर उसका क्षय हो चला है, उसका स्थान दूसरी विचारधाराएँ लेती जा रही हैं, कोई विचारशील व्यक्ति अपने राज्य को पूँजीवादी कहने में गौरव का अनुभव नहीं करता।

अस्तु, इस पुस्तक में इन विचारधाराओं का सरल सुबोध परिचय देने और इनकी तुलना करने का प्रयत्न किया गया है, जिससे अर्थशास्त्र और राजनीति प्रेमियों के अतिरिक्त साधारण पाठक भी इससे लाभ उठा सकें। इसकी योजना 'मनुष्य जाति की प्रगति' का दूसरा संस्करण तैयार करते समय हुई थी। इसका बहुत-कुछ हिस्सा उसमें मिला दिया था, जिससे उसके पाठक सहज ही इसका उपयोग कर सकें। साल भर में इस पुस्तक का दूसरा संस्करण करने का अवसर आ गया, इसके लिए पाठकों तथा शिक्षा-प्रेमियों को बधाई। अब इस संस्करण में हमने आवश्यक संशोधन कर दिया है। जिन पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं आदि से इस रचना में सहायता मिली है, उनका उल्लेख यथा-स्थान कर दिया गया है। उनके लेखकों तथा सम्पादकों के हम बहुत कृतज्ञ हैं।

लेखक

विषय-सूची

१—मानव प्रगति और सुख

सभ्यता की वृद्धि—प्रकृति पर विजय—क्या आदमी सुखी जीवन बिता रहा है? अकाल, गरीबी और बेकारी—शारीरिक दशा असंतोषजनक—प्रगति एकाँगी और अधूरी हुई—सर्वाङ्गीण प्रगति की आवश्यकता—विशेष वक्तव्य। पृष्ठ १—७

२—प्राचीन समाज-व्यवस्थाएँ

[१] भारत की वर्णाश्रम व्यवस्था

समाज का विभाजन और वर्ण व्यवस्था—गुण, कर्म और जन्म का विचार—सन्तान सम्बन्धी विचार - विशेष वक्तव्य। पृष्ठ ८—१२

[२] अफलातून के सामाजिक विचार

अफलातून के विचारों का महत्व—अफलातून का मत, तीन प्रकार के आदमी—सन्तान सम्बन्धी विचार—विशेष वक्तव्य। पृष्ठ १२—१४

३—आधुनिक समाज-व्यवस्थाओं की विशेषता

व्यवहारिकता—तर्क और विवेक—शरीर-श्रम की प्रतिष्ठा—सार्वभौमिकता विचारकों की अपेक्षा विचारधाराओं का महत्व—जनता का हित - विशेष वक्तव्य। पृष्ठ १५—१८

४—पूँजीवाद

पूँजीवाद का अर्थ—पूँजीवाद से पहले की स्थिति—उत्पादन की नयी विधि; कल कारखाने—पूँजीवाद का प्रारम्भ; औद्योगिक क्रान्ति—पूँजीवाद का मुख्य लक्षण; उत्पत्ति और वितरण का केन्द्रीकरण—पूँजीवाद के लाभ; भ्रमात्मक और अस्थायी—पूजीवाद की वृद्धि, विनाशकारी; उपभोक्ताओं की दृष्टि से—समुद्र में भी मीन प्यासी—उत्पादकों की दृष्टि से विचार; मजदूरों

की अवहेलना—वर्ग-संघर्ष—बेकारी, शरीर-श्रमियों की और बुद्धिजीवियों की—जनतन्त्र का ह्रास—साम्राज्यवाद—महायुद्ध—अन्याय और हिन्सा—पूँजीवाद का क्षयरोग—पूँजीवाद का विरोध और उसकी प्रतिक्रिया—फासिस्ट-वाद—नाजीवाद—विशेष वक्तव्य। पृष्ठ १६—३५

५—समाजवाद

सामाजिक भावना—समाजवाद के मुख्य लक्षण—समाजवाद और व्यक्तिवाद—समाजवाद का वैज्ञानिक विवेचन, मार्क्सवाद—कार्लमार्क्स के मुख्य सिद्धान्त—उत्पत्ति के साधनों का राष्ट्रीकरण—वितरण सम्बन्धी विचार—उद्देश्य-सिद्धि के मार्ग; दो मत—समाजवाद के भेद—राजकीय समाजवाद—मजदूर-संघवाद—श्रेणी-समाजवाद—अराजवाद—अराजवादी विचारक—अराज वाद और मार्क्सवाद—अराजवाद और अन्य समाजवाद—समाजवाद आंदोलन से लाभ—समाजवाद में बताये जाने वाले गुणों की आलोचना—समाजवाद की खास कमी—समाजवाद का प्रयोग—समाजवाद और पूँजीवाद की मिली-जुली व्यवस्था—भारत में समाजवाद—चौदह सूत्री कार्यक्रम—कार्यक्रम सम्बन्धी विचार—विशेष वक्तव्य। पृष्ठ ३६—५६

६—साम्यवाद

साम्यवाद क्या है?—समानता की भावना—शोषण की वृद्धि, उसके निवारण का विचार—आधुनिक साम्यवाद का प्रादुर्भाव—साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना—साम्यवादी कार्यक्रम; परिवर्त्तन-काल की व्यवस्था—राज्यहीन समाज - विश्व-क्रान्ति का सिद्धान्त और इसका प्रयोग—आधुनिक साम्यवाद से लाभ और उनकी असलियत—साम्यवाद और पूँजीवाद—साम्यवाद और समाजवाद; इनकी समानता—साम्यवाद और समाजवाद में अन्तर—वर्तमान रूसी व्यवस्था और वास्तविक साम्यवाद। पृष्ठ ५७—६८

७—सर्वोदय

सर्वोदय क्या है?—सर्वोदय की भावना बहुत पुरानी है—सर्वोदय की आधुनिक विचारधारा—क्या सबका उदय सम्भव है? शंका-समाधान—

वर्ग-संघर्ष का दृष्टिकोण दूषित है—अधिकतम जनता के अधिकतम हित की बात भी ठीक नहीं—अहिन्सा और साधन-शुद्धि की आवश्यकता—सर्वोदय के मूल आधार—(१) अहिन्सा—(२) विकेन्द्रीकरण—(३) ग्राम-स्वावलम्बन—यन्त्रों के उपयोग की मर्यादा—शोषणहीनता—ग्रामोद्योग या हाथ से बनी चीजों का उपयोग—(४) आर्थिक समानता—ट्रस्टीशिप—अपरिग्रह—राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति सर्वोदय दृष्टिकोण—भारत में सर्वोदय; ग्यारह व्रत—सर्वोदय समाज और सेवा-संघ—सर्वोदय प्रचार कार्य—भू-दान यज्ञ—सम्पत्ति दान यज्ञ—श्रम-दान—बुद्धि-दान—विशेष वक्तव्य। पृष्ठ ६६—६०

८—समाजवाद, साम्यवाद और सर्वोदय

सर्वोदय और समाजवाद; इनमें समानता—सर्वोदय और समाजवाद में अन्तर—सर्वोदय और साम्यवाद; ऊपरी समानता—भेद की मुख्य बातें—सर्वोदयी व्यवहार की आवश्यकता—सब देशों द्वारा समर्थन—हमारा कर्त्तव्य कार्य—विशेष वक्तव्य। पृष्ठ ६१—१००

परिशिष्ट

१—सर्वोदय के सिद्धान्त पृष्ठ १०१—२
२—सर्वोदय का संदेश पृष्ठ १०२
३—सर्वोदय का सूत्र पृष्ठ १०३

'सर्व धर्म स्मरण'

ॐ तत्सत् श्रीनारायण तू, पुरुषोत्तम गुरू तू,
सिद्ध बुद्ध तू, स्कन्ध विनायक, सविता पावक तू।
ब्रह्म मज्द तू, यह्व शक्ति तू, ईशु-पिता प्रभु तू,
रूद्र विष्णु तू, रामकृष्ण तू, रहीम ताओ तू।
वासुदेव, गो विश्वरूप तू, चिदानन्द हरि तू,
अद्वितीय तू, अकाल निर्भय आत्मलिंग शिव तू।

* * * *

नारायण नारायण जय गोविन्द हरे।
नारायण नारायण जय गोपाल हरे॥

* * * *

रघुपति राघव राजाराम पतित पावन सीताराम।
ईश्वर अल्ला तेरे नाम, सबको सन्मति दे भगवान॥

पहला अध्याय

मानव प्रगति और सुख

हवा और पानी ही नहीं, अणु-परमाणु को भी विज्ञान के सहारे मानव ने अपने संकेतों पर नाचने वाला बना लिया है। आज वह काल को चकित कर रहा है। किन्तु इस तमाम विकास और प्रगति के पीछे स्वार्थपरता की प्रेरणा ही अधिकांशतः सक्रिय है। फलतः महा विनाश की आराधना विशेष रूप से की जा रही है। तब यह कैसा विकास है; कैसी प्रगति है!

—'प्रताप'

समय-समय पर विविध देशों में, और अनेक बार एक ही देश में कई-कई प्रकार की समाज-व्यवस्थाएँ शुरू हुई, विकसित हुई, और पीछे आवश्यकतानुसार बदलती रही हैं। इस समय भी कई विचार-धाराएँ हैं। उनका सूत्रपात तथा विकास किस प्रकार हुआ, उनकी मुख्य बातें क्या हैं, तथा उनमें क्या गुण दोष हैं, इनका विचार करने से पहले मानव प्रगति पर एक नजर डाल कर यह देखना जरूरी है कि इस समय मानव समाज कैसी दशा में है, वह कहाँ तक सुखी है।

सभ्यता की वृद्धि—शुरू के जमाने की अपेक्षा अब आदमी के खान-पान, रहन-सहन या जीवन-निर्वाह की पद्धति में कितना अन्तर हो गया है! आदमी की पहले की अवस्था को 'असभ्यता' या जंगलीपन की हालत कहा जाता है। अब आदमी 'सभ्य' हो गया है। मानव जीवन को कथा सभ्यता की वृद्धि का इतिहास है। शुरू में आदमी कन्द मूल, जंगली फल या मांस आदि जो कुछ मिल जाता था, खा लेता था। वह अपनी इच्छा से न फलाहारी हो सकता था, और न मासाहारी। उसके सामने खाने के पदार्थों की छांट का सवाल न था। उसे तो अपना पेट भरने से मतलब रहता था।

खाने की जो चीज मिल जाती, उसी से वह अपनी गुजर करता। जब कोई चीज मिल जाती, तभी वह उसे खा डालने का विचार कर लेता। अगर खाने को काफी नहीं मिलता तो वह भूखा रहता। बहुत मुद्दत के बाद उसने पशुओं को पालना और खेती करना सीखा। अब वह अपनी भूख मिटाने की सामग्री स्वयं पैदा कर सकता है, उसे कुदरती तौर से मिलने वाले पदार्थों से संतोष करने की जरूरत नहीं। यही नहीं, अब तो आदमी ने इतनी उन्नति करली है कि यदि वह अपनी शक्ति का ठीक उपयोग करे तो वह इतना अन्न आदि पैदा कर सकता है जो उसकी आवश्यकता से अधिक हो। सभ्य आदमी को अपने के निर्वाह के लिए खाद्य पदार्थों की चिन्ता नहीं, वह अपने स्वाद या जायके के आनन्द के लिए तरह-तरह के षटरस पकवान आदि तैयार करता रहता है।

पहनावे को बात लें। आरम्भ में आदमी नंगा रहता था। उसे सर्दी-गर्मी का कष्ट न था। पीछे वह पेड़ों की पत्तियों आदि से शरीर ढकने लगा तो बदन को सजाने की भावना से ही। सर्दी-गर्मी उसे विशेष रूप से पीछे जाकर लगने लगी। उसके भी बाद उसमें लज्जा का भाव पैदा हुआ। पर पहले उसे कपड़ा प्राप्त न था। इसका आविष्कार उसकी 'सभ्य' अवस्था में हुआ और, इस समय तो आदमी की पोशाक अधिकतर शौकीनी, फैशन या सामाजिक प्रतिष्ठा आदि बढ़ाने के साधन के रूप में काम आ रही है। लज्जा निवारण करने या सर्दी-गर्मी से बचने के लिए तो थोड़ा सा ही कपड़ा चाहिए।

निवास-स्थान का विचार करें। आरम्भ में मकान बना कर रहने की बात ही नहीं थी। आदमी खुली जगह में, जंगल में, या गुफा आदि में अपना समय व्यतीत करता था। उसका रहनसहन प्राकृतिक था, पशुओं से मिलता था। उसने धीरे-धीरे प्रगति की। उसे धूप, सर्दी, गर्मी, वर्षा और ओलों आदि से अपनी रक्षा करने की सूझी। आरम्भ में उसने जो घास-फूस की झोपड़ी बनायी, उसे आज का सभ्य आदमी जानवरों के भी रहने योग्य नहीं समझता। आधुनिक अवस्था में आने तक आदमी निर्माण-कला की अनेक

मंजिले तय कर चुका है। इस समय के कई-कई मंजिलों के ऊँचे भव्य या आलीशान मकानों की जब आदमी पुराने समय की पर्णकुटी से तुलना करता है तो वह यह सोचने लगता है कि मैं कहाँ से कहाँ आ गया।

ऊपर भोजन वस्त्र और मकान की ही बात कही गयी है। यही बात दूसरे विषयों के सम्बन्ध में ठीक उतरती है। मिसाल के तौर पर यात्रा की बात लें। पहले आदमी पैदल चलता था। बाद में उसने घोड़े या ऊँट आदि पर सवार होकर या बैलगाड़ी, या घोड़ागाड़ी आदि में चलना शुरू किया। पीछे साइकिल, ट्राम, मोटर आदि सवारियों का चलन हुआ। रेलों ने दूर-दूर की यात्रा को आसान कर दिया है। समुद्र में अब आदमी नाव या किश्ती की यात्रा से संतोष नहीं करता, अब तो बड़े-बड़े जहाजों की बात है, जो भाप या बिजली से चलते हैं, और हजारों आदमियों को एक साथ ले जाते हैं और कुछ घण्टों में कहीं-का कहीं पहुँचाते हैं। जमीन और समुद्र पर प्रगति करते-करते आदमी आकाश में भी घूमने, और वायु को वश में करने लग गया है हवाई जहाजों द्वारा आदमी और सामान ढोने में लगातार तरक्की हो रही है।

प्रकृति पर विजय—सभ्यता की वृद्धि के लिए आदमी ने प्रकृति पर—भौतिक पदार्थों, पशुओं, जमीन, समुद्र, हवा और आकाश आदि पर—बहुत कुछ विजय प्राप्त करने की कोशिश की है; समय और दूरी को काबू में किया है; भाप, हवा बिजली आदि की शक्तियों का उपयोग किया है। यह काम अभी चल रहा है। आगे-आगे इसमें और अधिक सफलता मिलने की आशा है। पर क्या यही काफी है?

क्या आदमी सुखी जीवन बिता रहा है?—यह ठीक है कि पुराने जमाने के मुकाबले में आदमी की बहुत सी कठिनाई दूर हो गयी हैं। जिन कामों के लिए पहले बहुत मरना-खपना पड़ता था, और जो फिर भी अच्छी तरह नहीं हो पाते, वे अब आसानी से, बहुत थोड़ी मेहनत से, और बहुत जल्दी हो जाते हैं। आदमी को अब फुरसत बहुत मिल सकती है। लेकिन कितने आदमी हैं, जो इस फुरसत का ठीक उपयोग करते हैं! बहुत से आदमी तो इस फुरसत के कारण आलसी और बेकार हो जाते

हैं। वे नहीं जानते कि वे क्या काम करें, और किस तरह अपना समय बिताएँ। नित्य नये मनोरंजनों का आनन्द लेते हुए भी उनके सामने अपना समय काटने की समस्या बनी रहती है। हाँ, ये फुरसत वाले आदमी, कुल मनुष्य जाति के विचार से बहुत थोड़े ही तो हैं। अधिकांश जनता को अब भी अपनी जरूरतें पूरी करने के लिए दिन-रात पसीना बहाना पड़ता है। फिर भी उन्हें अपना गुजारा करने के लिए काफी भोजन-वस्त्र नहीं मिल पाता; दूसरी चीजों का जिक्र ही क्या किया जाय !

अकाल, गरीबी, और बेकारी—हमारी आर्थिक या सामाजिक व्यवस्था दूषित होने का प्रबल प्रमाण मौजूद है। अकाल या दुर्भिक्ष अब भी जनता को बहुत सता रहे हैं। बहुत सी उपयोगी चीजों का परिमाण बहुत बढ़ा हुआ है, परन्तु समाज में उनका बँटवारा इस तरह होता है कि कुछ थोड़े से आदमियों के पास तो उनकी जरूरत से कहीं अधिक सामान है, और बहुत से आदमियों के पास उनके गुजारे लायक भी नहीं हैं। संसार के हर देश में मुट्ठी भर आदमी धनवान या पूँजीपति हैं; कुछ थोड़े से ऐसे हैं, जिनका किसी तरह काम चलता है; शेष आदमी गरीबी की चक्की में पिसे जा रहे हैं। जबकि अमरीका और इंगलैण्ड जैसे उन्नत देशों में भी बेकार और गरीब आदमियों की बहुत शिकायतें हैं, तो भारतवर्ष और अफ्रीका आदि के गरीबों की दुर्दशा का क्या ठिकाना !

शारीरिक दशा असन्तोषजनक—लोगों का स्वास्थ्य भी संतोषजनक नहीं है। जिन देशों में चिकित्सा-विज्ञान की बहुत उन्नति हो चुकी है, वहाँ भी कितने ही आदमी पूरे तौर से बहरे, अन्धे, और पागल आदि मिलते हैं। अनेक आदमी कल-कारखानों या यात्रा सम्बन्धी दुर्घटनाओं से मरते रहते हैं। और उनकी तादाद तो और भी अधिक है, जो किसी बीमारी के कारण हफ्तों या महीनों तक अपना साधारण रोजमर्रा का काम करने में असमर्थ रहते हैं। डाक्टर वैद्य बढ़ते जा रहे हैं तो रोगों की संख्या और उनका प्रभाव और भी अधिक बढ़ता जा रहा है।

मानव शक्तियों का यथेष्ट विकास नहीं होता—जो आदमी अपने शरीर से असमर्थ और तन्दुरुस्त होते हैं, उनमें से बहुत से अपने कार्यों से समाज का जितना चाहिए, उतना हित नहीं करते। बहुतों की शक्तियों का समुचित विकास नहीं हुआ है, उन्हें आवश्यक शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करने की सुविधा या अवसर नहीं मिला है। संसार के बहुत से देशों में अशिक्षित, अनपढ़, अकुशल आदमी भरे पड़े हैं। इन आदमियों की उपयोगिता कम होनी स्वाभाविक ही है। ठीक-ठीक ऐसा हिसाब लगाना तो बहुत मुश्किल है कि अगर किसी देश में सब आदमी पूरी तरह से शिक्षित, कुशल और समझदार हों तो वहाँ कितना अधिक काम हो सकता है, और मौजूदा हालत में कितनी कमी रहती है; तो भी इसमें कोई शक नहीं कि इस समय न केवल अवनत या पिछड़े हुए कहे जाने वाले देशों में बल्कि उन्नत देशों में भी आदमी की शक्ति या योग्यता के विकास की बहुत गुंजायश है।

प्रगति एकांगी और अधूरी हुई—आरम्भ में हर जगह आदमियों में बहुत-कुछ समानता या बराबरी थी, कुछ आदमी पिछड़े हुए और दूसरे आगे बढ़े हुए न थे। यह भेद पीछे जाकर धीरे-धीरे हुआ। अब जुदा-जुदा देशों के आदमियों की अवस्था में तो अन्तर है ही, एक ही देश या प्रान्त के और एक ही नगर या गाँव के कुछ आदमी उन्नत हैं और दूसरे अवनत। जो आदमी उन्नत कहे जाते हैं, वे भी कुछ बातों में बहुत उन्नत है, और दूसरी बातों में बहुत कम। एक खास बात यह है कि आदमी ने प्रकृति पर जितनी विजय प्राप्त कर ली है, उसकी अपेक्षा उसने स्वयं अपने ऊपर विजय पाने की ओर ध्यान नहीं दिया, या यों कहा जाय कि बहुत कम ध्यान दिया। वह अब भी स्वार्थी है; उसमें काम, क्रोध, लोभ, मोह है; वह अहंकारी है, अपनी इन्द्रियों और वासनाओं का दास है। उसे निजी सुख की चाह है। उसे उन लोगों की फिक्र नहीं है, जिन्हें वह पराया या गैर समझता है। इसलिए जो प्रगति हुई है, उससे थोड़े से ही आदमी लाभ उठा सकते हैं, अधिकांश आदमी उसके लाभ से वंचित हैं। सारी मनुष्य जाति के विचार से कह सकते हैं कि ऐसा मालूम होता है, जैसे एक टोला के आदमी यात्रा करने निकले और उनमें से कुछ

तो काफी आगे बढ़ गये, इनका समय एक प्रकार सुख से बीतता है, पर बाकी आदमी बहुत पीछे और बिखरे हुए हैं, ये बहुत संकट में हैं, आगे बढ़े हुओं से इनका कोई सम्पर्क नहीं रहा, उन्हें इनकी सुध नहीं है। इस तरह चाहे इस टोली की साधन-सम्पत्ति कुल मिलाकर पहले से कहीं अधिक है, लेकिन क्योंकि वह कुछ लोगों के हिस्से में बहुत अधिक है, और दूसरे प्रायः उससे वंचित है, इसलिए टोली के सदस्यों के विचार से यह प्रगति संतोषप्रद नहीं है; बल्कि अब विषमता बहुत अधिक है और बहुत खटकने वाली है।

सर्वाङ्गीण प्रगति की आवश्यकता—जो आदमी या जातियाँ भौतिक उन्नति में लगी होती हैं, वे अपने सुख की बात सोचती रहती है, दूसरों के दुख-दर्द दूर करने की ओर वे ध्यान नहीं देतीं। अकसर ऐसी जाति या राष्ट्र थोड़े समय की चहलपहल के बाद अपने आपको संकट में फँसा हुआ पाती हैं। यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि जातियों या राष्ट्रों के जीवन में दो-चार पीढ़ियों का समय भी थोड़ा ही माना जाता है। इसलिए अगर कोई जाति भौतिक उन्नति के कारण सौ दो सौ वर्ष भी खूब घूमधाम या रौबदौब का जीवन बिताए तो इससे ऊपर कही हुई बात में फरक नहीं आता। आदमियों को इससे धोखे में नहीं आना चाहिए। मतलब यह कि किसी जाति को अकेली या अधिकांश भौतिक उन्नति में लगे रहने से स्थायी या लम्बे समय तक सुख नहीं मिल सकता। उसे उसके साथ नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति की ओर भी काफी बढ़ते रहना चाहिए। उसे दूसरों के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझना, और उनकी उन्नति में भरसक योग देना चाहिए।

आध्यात्मिक उन्नति को कुछ आदमी बहुत रहस्यमय समझते हैं। इसके नाम पर कितने ही नर नारी अपने समय का बहुत सा हिस्सा पूजा-पाठ और भक्ति में लगाते हैं। असल में यह सारी सृष्टि ईश्वर या ब्रह्म का ही स्वरूप है। आदमी को चाहिए ईश्वर या ब्रह्म के इस विशाल स्वरूप से अपनेपन का अनुभव करे। जब वह यह अनुभव करने लगेगा तो अपने-पराये का भेद नहीं रहेगा; गोरे-काले, पूञ्जीपति और मजदूर, अमरीकी और जापानी, या अंगरेज और भारतीय आदि के भेद-भाव की दीवारें सब नष्ट हो जायँगी। ईसाई,

मुसलमान, पार्सी और हिन्दू सब अपने-आपको एक परब्रह्म परमात्मा की संतान समझेंगे, सब का आपस में भाईचारे का व्यवहार होगा; सब यह मानेंगे कि जैसी आत्मा मुझ में है, वैसी ही दूसरे में है; दूसरे को दुख देना स्वयं अपने-आपको दुःख देना है, और दूसरे को प्यार करना खुद अपने आपको प्यार करना है। हम सुख चाहें तो सब के लिए; यदि सिर्फ हमारे लिए ही सुख के सामान मौजूद हों, और हमारे भाई उनसे वञ्चित रखे जायँ तो हमें वह सुख भी स्वीकार न हो।

इसका एक सुन्दर दृष्टान्त हमें महाभारत में मिलता है। युधिष्ठिर महाराज को स्वर्ग में लें जाया जाने लगा तो उन्होंने वहाँ उस समय तक जाना स्वीकार न किया जब तक उनके साथ उनके कुत्ते को भी वहाँ जाने की इजाजत न मिली। अपने साथियों से ऐसी सहानुभूति होना जाति-भेद, रंग-भेद, सम्प्रदाय-भेद आदि की भावना को दिल से निकाल कर सब की उन्नति और सेवा करना ही हमारा ध्येय होना चाहिए।

विशेष-वक्तव्य—मनुष्य जाति के वास्तविक सुख और अभ्युदय के लिए याद रखना जरूरी है कि विज्ञान तथा पारस्परिक सम्पर्क के साधनों की वृद्धि के कारण इस समय संसार की स्थिति ऐसी है कि उसके कुछ हिस्सों का ही ध्यान रखने से उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता। सुख और शान्ति अब अविभाज्य हैं। एक भी प्रदेश की अवनति या संकट से सबको क्षति पहुँच सकती है, और पहुँचती है। इसलिए जरूरी है कि मानव प्रगति विश्व-हित की दृष्टि से हो; वह, संसार के किसी विशेष भाग या कुछ भागों में सीमित न रहे। दूसरी विचारणीय बात यह है कि प्रगति व्यापक क्षेत्र वाली हो, वह किसी खास प्रकार की अर्थात् केवल भौतिक या केवल आध्यात्मिक न हो। यह तभी हो सकता है जब हमारी समाज-व्यवस्था ठीक हो। अगले अध्यायों में इस बात का विचार किया जाएगा कि प्राचीन काल में समाज-व्यवस्था सम्बन्धी हमारी धारणा क्या रही है, और अब कौन-कौनसी समाज-व्यवस्थाएँ मुख्य हैं तथा सर्वसाधारण जनता के हित की दृष्टि से वे कहाँ तक उपयोगी हैं।

— —

दूसरा अध्याय

प्राचीन समाज-व्यवस्थाएँ

समाज में रहने वाले आदमियों में आपस में ईर्षा, द्वेष, लड़ाई-झगड़ा, संघर्ष और असन्तोष न हो, सब एक दूसरे के सुख-दुख में भाग लें, सहानुभूति और सहयोग की भावना रहे—इसके लिए कुछ नियम-कायदे बनाने और समाज-व्यवस्था तय करने की जरूरत होती है। जिस देश में सामाजिक जीवन का विकास पहले हुआ, वहाँ ही ऐसी व्यवस्था का विचार पहले हुआ। प्राचीन काल में जुदा-जुदा देशों में समाज-व्यवस्था सम्बन्धी क्या-क्या विचार-धाराएँ रहीं, उनका खुलासा परिचय यहाँ नहीं दिया जा सकता। हम नमूने के तौर पर भारत और यूनान का विषय लेंगे।

[१]

भारत की वर्णाश्रम व्यवस्था

समाज का विभाजन और वर्ण-व्यवस्था—समाज में चार वर्ण कैसे हुए? शुरू में कबीलों या खानदानों में जमीन, खाने-पीने के सामान, या स्त्री के लिए बहुत झगड़े रहते थे। धीरे-धीरे कुछ आदमी खास तौर से लड़ने के लिए ही योग्य होने लगे; ये सिपाही (क्षत्रिय) कहे जाने लगे। जब कबीले के कुछ आदमी लड़ने के ही काम में लगे रहते थे तो दूसरे आदमियों के लिए एक जरूरी काम यह हो गया कि उनके लिए, खुद अपने लिए और बाकी और सब के लिए खाने और कपड़े आदि का इंतजाम करें, खेती करें, और पशुओं का पालन करें। ये लोग व्यापारी (वैश्य) आदि कहलाने लगे। कुछ ऐसे आदमी भी आवश्यक मालूम हुए, जो बालकों को शिक्षा दें, पुरानी कथा कहानी सुनाएँ, और तरह-तरह का ज्ञान कराएँ। इसके लिए यह जरूरी हुआ कि ये खुद भी

ज्ञानवान हों। इस तरह इनका काम पढ़ना-पढ़ाना हुआ। कबीले या जाति में कौनसे रिवाज प्रचलित हैं, किस देवी देवता को माना जाता है, और उस देवी देवता को किस तरह खुश रखा जा सकता है—इन बातों का ज्ञान इन्हीं लोगों को होता था। ये लोग पुजारी पुरोहित (ब्राह्मण) आदि कहलाये। इन सब के अलावा बहुत से आदमी ऐसे होते हैं, जो ऊपर बताये हुए काम नहीं कर सकते, वे बहुत होशियार नहीं होते, कुछ मेहनत मजदूरी का मामूली काम करने योग्य ही होते हैं। ये सेवक (शूद्र) कहलाये। इनमें बहुत से आदमी ऐसे भी हो सकते हैं, जो लड़ाई में हारे हों, या दास या गुलाम बनाये गये हों। इनको समाज में सबसे नीचे दर्जे का माना गया।

ऊपर जो चार तरह के काम करनेवाले समूह बताये गये हैं, ये थोड़े-बहुत भेद से सभी जगह होते हैं; और, मोटे तौर से अब भी देखने में आते हैं। इस व्यवस्था को मजबूत और स्थायी बनाने के लिए भारतीय नियम-निर्माताओं ने यह तय किया कि ब्राह्मण दूसरे वर्णों के आदमियों को ठीक रास्ते पर चलाने वाले हों, यहाँ तक कि शासक भी उनकी सलाह को मानें और कोई काम उनकी इच्छा के विरुद्ध न करें। ब्राह्मण विद्वान और निर्लोभी हों। इन्हें रुपये-पैसे या ऐश्वर्य आदि से कुछ मतलब नहीं। ये बहुत सादगी और गरीबी का जीवन बिताएँ, लेकिन इसके साथ समाज में, राज-दरबार में और सभी जगह इनका आदर-मान सबसे अधिक हो। क्षत्रिय वर्ण के आदमी समाज की रक्षा के लिए अपनी जान न्योछावर करने तक को तैयार रहें; शान-शौकत से रहें, राज्य में ऊँचे अधिकार और पद पाएँ, लेकिन ब्राह्मणों के नियंत्रण में रहें, स्वेच्छाचारी न बन जाएँ। वैश्य वर्ण धन और सम्पत्ति का उपभोग करे, पर सर्वसाधारण के हित के लिए, बिना किसी प्रकार के अभिमान या अहंकार के। उनका पद भी समाज में प्रथम या द्वितीय नहीं, तीसरे दर्जे का था। शूद्रों का काम सेवा करना था। उनके जीवन-निर्वाह की व्यवस्था दूसरे वर्ण करते थे।

गुण-कर्म और जन्म का विचार—वर्ण-व्यवस्था एक तरह का श्रम-विभाग था। इसका उद्देश्य लोगों को उनके गुण कर्म के अनुसार अलग-अलग

पेशों में लगा देना था। वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था का यह उद्देश्य जनता के सामने रहा, आदमियों के वर्ण का चुनाव करते समय गुण-कर्म का काफी ध्यान रखा गया।

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, सामाजिक जीवन जटिल होता गया। लोगों की आवश्यकताएँ तथा काम-धन्धे बढ़े। आदमी के लिए आमतौर से अपना पैत्रिक कार्य करना ज्यादा आसान होता है। इस लिए लोगों में गुण-कर्म के साथ जन्म (वंश) का भी ख्याल रखने की परिपाटी शुरू हो गयी। रामायण-काल में कुल, वंश और जाति का महत्व बढ़ना शुरू हो गया और पीछे बढ़ता ही गया।

जाति-भेद—धीरे-धीरे यह हालत हो गयी कि ब्राह्मण के पुत्र को ब्राह्मण माना जाने लगा, चाहे वह क्षत्री, वैश्य या शूद्र का ही काम क्यों न करें। इसी तरह धीरे-धीरे सुनार, लुहार, कुम्हार, धोबी नाई, मेहतर, चमार आदि जितने पेशे हैं, सब की अलग-अलग जाति बन गयी। एक जाति के आदमियों का एक खास काम या पेशा निश्चित हो गया, और उनका विवाह-सम्बन्ध उसी जाति में होने लगा। साथ ही अलग-अलग जातियों में ऊँच-नीच का भाव होने लगा, कुछ जातियाँ बहुत ऊँची मानी जाने लगी, कुछ बहुत नीची; यहाँ तक कि कितनी ही जातियों के आदमी अस्पृश्य या अछूत समझे जाने लगे और अब तक समझे जाते हैं। ऐसा जाति-भेद समाज के टुकड़े-टुकड़े करने वाला, और आदमियों के विकास में बाधक है। अब इसमें सुधार हो रहा है।*

आश्रम-व्यवस्था—ऊपर वर्णों की बात कही गयी है। भारतीय नियम-निर्माताओं ने आश्रम-पद्धति की भी व्यवस्था की। उन्होंने आदमी की

---

* दूसरे देशों में, खासकर यूरोप अमरीका में इस तरह जन्म के आधार पर जाति-भेद नहीं है; वहाँ प्रायः श्रेणी-भेद पाया जाता है। श्रेणी का आधार बहुधा आर्थिक होता है। धनवान आदमियों की गरीबों से बहुत-कुछ अलग श्रेणी रहती है। इनके आदमियों में आपस में विवाह सम्बन्ध आदि कम होता है।

साधारण उम्र सौ साल की मान कर उसके चार हिस्से किये थे—(१) पच्चीस वर्ष तक आदमी ब्रह्मचारी रहें * और विद्या या ज्ञान प्राप्त करें। छः सात वर्ष का होने पर बालक गुरुकुल में भेज दिया जाय और वहाँ वह कम-से-कम २५ वर्ष की उम्र तक तरह-तरह की विद्या प्राप्त करके घर लौटे। (२) पच्चीस वर्ष का हो जाने पर आदमी विवाह करे और गृहस्थ आश्रम में दाखिल हो जाय। इस आश्रम में पच्चीस वर्ष रहकर आदमी विविध सांसारिक (सामाजिक) कार्य करे। (३) पचास वर्ष की उम्र हो जाने पर आदमी गृहस्थी की मोह-माया छोड़कर, स्त्री सहित बन में या विदेशों में रहें; धार्मिक या नैतिक ग्रन्थों को पढ़े और मनन करे। इस तरह पिछत्तर वर्ष की उम्र तक बानप्रस्थ आश्रम में रहे। (४) पिछत्तर वर्ष की उम्र से जीवन के अन्त तक आदमी संन्यास आश्रम में रहे वह स्थान-स्थान पर दौरा करता रहे, गृहस्थियों को उपदेश दे; उनकी समस्याओं को हल करने के उपाय बतलाए और अपने ज्ञान और अनुभव से समाज को लाभ पहुँचाए। बह जाति, रंग या देश के बन्धनों को तोड़कर निष्काम भाव से लोगों की सेवा करे।

यह नहीं कहा जा सकता कि यह आश्रम-व्यवस्था यहाँ कुल जनता के कितने हिस्से में अमल में आयी। पर जितने भी आदमियों ने इस आदर्श को मानकर इसके अनुसार अपना जीवन विताया होगा, उन्होंने अपना और समाज का अवश्य ही बहुत हित साधन किया होगा। हजारों वर्ष बीत जाने पर अब भी हिन्दू सिद्धांत से इस पद्धति को मानते हैं, लेकिन व्यवहार में अब निन्यानबे फी-सदी लोगों के लिए दो ही आश्रम रह गये हैं—ब्रह्मचर्य और गृहस्थ। जिसका जब तक विवाह न हो तब तक वह ब्रह्मचारी मान लिया जाता है, पीछे ज्यादातर आदमियों के लिए मरते दम तक गृहस्थी की चिन्ताओं से छुटकारा नहीं होता।

विशेष वक्तव्य—आजकल के आर्थिक संघर्ष के युग में वानप्रस्थियों और संन्यासियों का स्वाभिमान से रहना और पूरे तौर से निष्काम सेवा

* **स्त्रियों के लिए ब्रह्मचर्य आश्रम सोलह वर्ष का रखा गया था।**

करना कुछ आसान काम नहीं रहा। अच्छा हो, अगर पचास या पचपन वर्ष की उम्र से आदमी स्वार्थ भाव छोड़कर सिर्फ अपने गुजारे भर को लेकर लोक सेवा के काम में लगे, और गाँवों में शिक्षा, स्वास्थ्य और घरू उद्योग-धन्धों की उन्नति के कामों में समय बिताए। इस तरह उन्हें भी अपने जीवन से संतोष हो और साथ ही समाज का भी हित हो।

[२]

अफलातून के सामाजिक विचार

अफलातून के विचारों का महत्व—अब हम यूनान के सुप्रसिद्ध दार्शनिक अफलातून (प्लेटो) के विचारों का परिचय देते हैं। इसका जन्म ईस्वी पूर्व सन् ४२७ में हुआ था और यह महान दार्शनिक सुकरात का शिष्य था। इसकी विचार-धारा भारतीय वर्ण व्यवस्था की योजना से कुछ मिलती है और उसका विशेष महत्व इसलिए है कि वह यूनान में बहुत आदर की चीज रही है, और यूनान यूरोप का आदि-गुरू रहा है। रोम ने यूनान से सभ्यता सीखी और वहाँ से उसका प्रचार यूरोप के विविध देशों में हुआ।

अफलातून का मत; तीन प्रकार के आदमी—अफलातून का मत है कि आदमी के स्वभाव में खासतौर से तीन गुण होते हैं—बुद्धि, तेज और वासना। जिस आदमी में इन गुणों में से जिसकी प्रधानता हो, उसे उसका विकास करके समाज की सेवा और उन्नति में योग देना चाहिए। इस तरह समाज में तीन तरह के आदमी होंगे – (१) बुद्धि-प्रधान—संरक्षक या सलाहकार (गार्ज़ियन्स और कौंसिलर्स), (२) तेज-प्रधान - योद्धा (वारिअर्स और डिफेन्डर्स) (३) वासना-प्रधान—उत्पादक और श्रमजीवी या किसान और कारीगर। इनमें से बुद्धि-प्रधान आदमियों को चाहिए कि समाज के संरक्षण की जिम्मेवारी लें, वे न तो किसी को बहुत धनवान होने दें, और न बहुत गरीब। मजिस्ट्रेट या शासक इस वर्ग में से बनाये जायँ, और वे आदर्श समाज का निर्माण करें। इसके लिए जरूरी है कि इनके शिक्षण की पूरी व्यवस्था हो। इन्हें बचपन

से ही ऐसी शिक्षा दी जाय कि इनमें विलासिता या सांसारिक सुखों की ओर प्रवृत्ति न हो। इनके खानपान और रहनसहन आदि का प्रबन्ध राज्य की ओर से हो। ये स्त्री और बच्चों के माया मोह से भी मुक्त रहें। इसलिए किसी संरक्षक का विवाह न हो; राज्य कुछ समय के लिए उसका योग्य स्त्री से सम्बन्ध करे। बालकों की परवरिश का इन्तजाम राज्य की ओर से हो। इस तरह किसी संरक्षक की कोई सन्तान या निजी रिश्तेदार न हो; उसका कोई माल मिलकियत आदि तो होगी ही नहीं।

दूसरा वर्ग तेज गुण प्रधान आदमियों का होगा। इनका यह कर्तव्य होगा कि समाज को बाहरी आपत्तियों से रक्षा करें, और हमेशा बुद्धि-प्रधान लोगों की अधीनता में रहें। उनके सलाह मशविरे बिना ये कोई काम न करें। तीसरे वर्ग में साधारण आदमी—किसान, कारीगर, और मजदूर आदि हों। इनका काम समाज के लिए आवश्यक भोजन वस्त्रादि की सामग्री बनाना और उचित परिमाण में वितरण करने में मदद देना होगा।

राज्य में एकता का भाव बढ़ाने और बनाये रखने के लिए अफलातून का मत था कि किसी के पास न तो कोई निजी मिलकियत हो, और न कोई किसी का रिश्तेदार आदि हो। अच्छी संतान पैदा करने के लिए राज्य योग्य माता-पिता का चुनाव करे और बच्चों के पालन-पोषण और शिक्षण की पूरी जिम्मेदारी ले। शिक्षा पर मजिस्ट्रेटों का नियन्त्रण रहेगा, और शिक्षा पाने पर हरेक आदमी उचित धन्धे का काम करने योग्य हो जाएगा। जो आदमी सबसे अधिक योग्य होगा, वह दार्शनिक या शासक होगा। शासक दार्शनिकों में से होंगे। इस तरह अफलातून ने ऐसे व्यक्तियों की योजना की, जिन्हें भारतीय नीतिकारों ने राजर्षि कहा है।

सन्तान सम्बन्धी विचार—विवाह की मनाही या निषेध करने के मूल में अफलातून का यह विचार था कि अगर एक पुरुष का किसी खास स्त्री से विवाह होगा तो यह स्वाभाविक ही है कि वह पुरुष उस स्त्री से इतना प्रेम करेगा, जितना वह किसी दूसरी स्त्री से न करेगा; वह उसको दूसरों से अधिक सुखी रखने की कोशिश करेगा, उसके लिए वह अधिक साधन या सम्पत्ति

जुटाएगा। इसी तरह वह अपनी सन्तान की शिक्षा और स्वास्थ्य की ही नहीं, सुख और वैभव की व्यवस्था भी करना चाहेगा। इन कारणों से उसमें धन जोड़कर रखने की भावना पैदा होगी; और, जब हरेक आदमी धन संग्रह करने लगेगा तो प्रतियोगिता और संघर्ष होगा, ईर्षा-द्वेष बढ़ेगा, अमीरी-गरीबी का सवाल पैदा होगा। इसे रोका नहीं जा सकेगा। इसलिए अफलातून व्यक्तिगत विवाह की पद्धति को उठा देने के पक्ष में था। उसका कथन था कि सब पुरुष और सब स्त्रियाँ राष्ट्र की सम्पत्ति हैं। सन्तान पैदा करने के लिए एक पुरुष का कुछ परिमित समय के लिए किसी खास स्त्री से सम्बन्ध हो जाय। पीछे उस पुरुष का उस स्त्री से विशेष सम्बन्ध न रहे। जो सन्तान हो, वह राष्ट्र की सम्पत्ति हो, उसका पालन-पोषण राज्य करे, और उस पर राष्ट्र का ही अधिकार हो। पुरुष और स्त्री को पीछे यह पता न रहे कि हम अमुक बच्चे के पिता या माता हैं, बच्चे भी बड़े होकर यह न जानें कि हम किसकी सन्तान हैं। इस तरह किसी व्यक्ति का स्नेह एक आदमी या कुछ इने-गिने आदमियों से न हो, सबसे हो; केन्द्रित न होकर राष्ट्रव्यापी हो।

विशेष वक्तव्य—यह पद्धति सरल है, लेकिन इतनी ज्यादा सरल है कि मनुष्य जीवन के लिए, जो कुछ जटिल ही है, यह उपयोगी या व्यावहारिक नहीं है। हाँ, इसका उद्देश्य—पारिवारिक मोह का नियन्त्रण—अवश्य ही बहुत उत्तम है। अस्तु, यह समाज-व्यवस्था बहुत कुछ कल्पना की ही चीज रही। अपने समय में यह यूनान में आदर्श भले ही मानी गयी हो, इसके विशेष रूप से अमल में आने का पता नहीं लगता।

तीसरा अध्याय

आधुनिक समाज-व्यवस्थाओं की विशेषता

हम मानव को मानव, हाड़-मांस का मानव ही देखना चाहते हैं, परन्तु प्रगति और विकास के द्वारा उसे सतत् महामानवता की ओर अग्रसर होता हुआ। —'प्रताप'.

अगले अध्यायों में इस समय प्रचलित विविध समाज-व्यवस्थाओं पर क्रमशः प्रकाश डाला जाएगा। यहाँ संक्षेप में यह विचार किया जाता है कि उनमें पुरानी समाज-व्यवस्थाओं की अपेक्षा क्या विशेषताएँ हैं।

व्यावहारिकता—प्राचीन काल की समाज व्यवस्थाओं पर नजर डालने से पहली बात यह सामने आती है कि वे अधिकतर सैद्धान्तिक या विचार-जगत की रहीं, उन्होंने यथेष्ट व्यावहारिक रूप धारण नहीं किया। इसके विपरीत, समाज-व्यवस्था सम्बन्धी आधुनिक विचारधाराओं की पीठ पर उनका प्रयोगात्मक या व्यावहारिक रूप है। उदाहरण के लिए नाजीवाद के सिद्धान्तों का ऐसा विस्तृत विवेचन नहीं किया गया, जितना कि हिटलर ने उसे, जर्मनी को नाजी राष्ट्र बना कर, स्थूल रूप से दिखा दिया। इसी प्रकार फैसिज्म का प्रचार किसी सिद्धान्त-ग्रन्थ के अनुसार न होकर इटली के फैसिस्ट रूप से हुआ, जो उसे मुसोलिनी ने दिया। साम्यवाद के परिचय और व्याख्या के लिए हमें रूस के उस रूप का विचार करना होता है जो लेनिन ने मार्क्सवाद के आधार पर स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार उसे दिया। सर्वोदय क्या है, इसकी जानकारी कराने के लिए महात्मा गांधी कोई विशाल ग्रन्थ नहीं छोड़ गये, उन्होंने अपने लेखों और भाषणों में समय-समय पर कुछ फुटकर विचार ही प्रकाशित किये हैं। उनका मुख्य कार्य रचनात्मक ही

रहा; जो कुछ उन्होंने किया उससे सिद्धान्त बनते गये, या सिद्धान्त बनने का मार्ग प्रशस्त होता गया।

तर्क और विवेक—प्राचीन समाज-व्यवस्थाओं का आधार प्रायः धर्म श्रद्धा या परम्परा रहती थी। समाज-व्यवस्था का चित्र उपस्थित करने वाला प्रत्येक लेखक अपने कथन के समर्थन या पुष्टि में अपने से पहले के धर्मग्रन्थों का सहारा लेता था। वर्तमान काल में यह बात नहीं है। अब धर्म और परम्परा का स्थान विज्ञान और तर्क ने ले लिया। किसी बात का केवल इसलिए प्रतिपादन नहीं किया जाता कि वह प्राचीन ग्रन्थों या धर्मशास्त्रों द्वारा अनुमोदित है। हर बात विवेक और तर्क की कसौटी पर कस कर दिखायी जाती है। फासिस्टवाद हो या समाजवाद, अथवा साम्यवाद आदि—कोई भी विचार-धारा हो, उसे धार्मिक रहस्यवाद से मुक्त रख कर प्रकाश में लाया जाता है। यह ठीक है कि म० गांधी ने राजनीति तथा समाजनीति को धर्म से जुदा नहीं किया, वरन् उसे धर्ममय रखने का आग्रह किया, पर म० गांधी का धर्म कोई रूढ़िवाद या परम्परा की पूजा नहीं है। उनका तो जनता से बारबार यह अनुरोध रहा है कि मेरी बात इसलिए मत मानो कि तुम मुझमें श्रद्धा रखते हो, तुम उसे तभी स्वीकार करो जब यह तुम्हारे विवेक-बुद्धि को सही मालूम हो।

शरीर श्रम की प्रतिष्ठा—प्राचीन समाज-व्यवस्था सम्बन्धी विचारधाराओं में शरीर-श्रम का सम्मान नहीं किया जाता था; शरीर-श्रम करने वालों को समाज में नीचे दर्जे का माना जाता था। भारत की वर्ण-व्यवस्था में जो वर्ण शरीर-श्रम सबसे कम करता था, वह सबसे ऊँचा था, और जो सबसे अधिक करता था उसका स्थान सबसे नीचा था। इस समय भी सब विचार-धाराओं में शरीर-श्रम को सम्मान नहीं है। पूँजीवाद तो श्रमजीवियों के शोषण पर ही फला-फूला है। तथापि अब शरीर-श्रम पहले की तरह घृणित नहीं माना जाता। समाजवाद और साम्यवाद में उसे यथेष्ट महत्व प्राप्त है। सर्वोदय में तो यह सिद्धान्त रखा गया है कि प्रत्येक को जीवन-निर्वाह के लिए खास तौर से शरीर-श्रम करना चाहिए, बुद्धि का उपयोग यथा-सम्भव लोक-सेवा या जन-हित के लिए किया जाय।

सार्वभौमिकता—प्राचीन विचारधाराओं का प्रचार प्रायः एकदेशीय होता था। उस समय यातायात और लोक-सम्पर्क के साधनों की कमी होने से ऐसा होना स्वाभाविक ही था। अस्तु, उस जमाने में प्रत्येक विचारधारा अधिकतर अपने उद्गम-स्थान के आसपास के क्षेत्र में सीमित रहती थी, और वह प्रायः उसी की दृष्टि से चलायी जाती थी। अब जो विचारधाराएँ चल रही हैं, उनका क्षेत्र स्थानीय न होकर व्यापक और सार्वभौमिक रहता है। उनका प्रचार किसी देश विशेष में सीमित न रहने से वे यथा-सम्भव अन्तर्राष्ट्रीय होती हैं। प्रत्येक विचारधारा की चर्चा, खंडन-मंडन या समर्थन करने वाले थोड़े-बहुत आदमी सभी देशों में मिलते हैं। फैसिज्म का प्रचार इटली में ही परिमित न रहा, वह इटली के विरुद्ध लड़ने वाले इङ्गलैण्ड तक में फैला; यहाँ तक कि वहाँ एक फासिस्ट दल का भी निर्माण हो गया। समाजवाद के किसी न किसी रूप के मानने वाले प्रत्येक राज्य में मिलते हैं। साम्यवादियों का तो उद्देश्य ही संसार भर में साम्यवाद का प्रचार करना है। 'सर्वोदय' का नाम ही यह स्पष्ट करता है कि इसमें रङ्ग, जाति, देश का बन्धन नहीं है, यह विश्व-हितकारी है।

विचारकों की अपेक्षा विचारधाराओं का महत्व—प्राचीन समाज-व्यवस्थाओं में विविध सिद्धान्तों के साथ खास-खास विचारकों का नाम रहता था। जैसे कौटलीय अर्थशास्त्र, वार्हस्पत्य अर्थशास्त्र, मनुस्मृति, याज्ञवल्क स्मृति आदि। अफलातून, अरस्तु, रूसो, मेक्याबिली, आदि के विचार इन आचार्यों के नाम से ही प्रसिद्ध हुए। अब बात प्रायः और ही है। फैसिज्म और नाजीवाद के साथ तो अवश्य ही मुसोलिनी और हिटलर का नाम जुड़ा हुआ है, पर पूञ्जीवाद, समाजवाद, साम्यवाद आदि में बिचारधारा का महत्व है, विचारक का नहीं। म० गांधी ने तो बारबार चेतावनी दी कि किसी बिचारधारा को मेरे नाम के साथ न जोड़ा जाय; 'गांधीवाद' जैसी कोई चीज न बनायी जाय।

जनता का हित—समाज-व्यवस्था सम्बन्धी प्राचीन विचारधाराओं में शासकों को प्रमुख स्थान दिया जाता था। उन्हीं को लक्ष्य में रख कर विचार-

धारा को क्रमबद्ध किया जाता था। उनके अधिकारों का खुलासा विवेचन किया जाता था। 'राजा कालस्य कारणम्' माना जाता था। आचार्य कौटल्य ने अपने सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्र में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि उसका ग्रन्थ सम्राट् चन्द्रगुप्त के लिए है। मेक्याविली ने अपने ग्रन्थ का नाम ही 'प्रिंस' रखा है, जिसका अर्थ है राजा, राजकुमार या शासक। प्राचीन तथा मध्य-काल में जनता के हित की विशेष चर्चा करना, शासितों के अधिकारों का विवेचन करना अनावश्यक माना जाता था; विशेषतया शासकों का ही ध्यान रहता था।

अब यह बात गये-गुजरे जमाने की हो गयी। राजनीति हो, या अर्थनीति अथवा समाजनीति—समाज-व्यवस्था सम्बन्धी किसी अच्छे ग्रन्थ के लेखक या विचारधारा के प्रतिपादक के लिए अब लोकहित को, जनता के कल्याण को, प्रमुखता देनी होती है। उसका मुख्य विषय शासक न होकर समाज होता है; यहाँ तक कि साम्राज्यवाद, फैसिज्म और नाजीवाद जैसी अधिनायकवादी या तानाशाही का समर्थन भी समाज-हित के नाम पर किया जाता है।

विशेष वक्तव्य—ऊपर हमने संक्षेप में यह बताया कि पुरानी और आधुनिक समाज-व्यवस्थाओं में क्या भेद है। अगले अध्यायों में हम समाज-व्यवस्था सम्बन्धी आधुनिक विचारधाराओं का परिचय देते हुए यह विचार करेंगे कि उनके अनुसार लोकहित कहाँ तक होता है, उनमें क्या-क्या त्रुटियाँ या कमियाँ हैं और कौनसी समाज-व्यवस्था अपने उद्देश्य को सबसे अधिक पूरा करने वाली है।

चौथा अध्याय

पूँजीवाद

जैसे-जैसे मशीनों की शक्ति और महत्व बढ़ा, वैसे-वैसे आदमी का मूल्य और महत्व कम होता गया। पहले हर आदमी एक स्वतन्त्र व्यक्ति था; आज के युग में वह समूह-धर्मी हो गया, उसका व्यक्तित्व चला गया।

—विलफ्रेड वेलाक

अधिनायकत्ववादी (फासिस्ट) विचारधारा वर्तमान काल की मुख्य प्रवृत्तियों के प्रतिक्रिया-रूप में प्रकट हुई है। इसलिए यह उन लोगों को बहुत आकर्षक प्रतीत होती है, जो आजकल के निरंतर होने वाले परिवर्तनों से घबरा गये हैं और जिनके स्वार्थों को धक्का पहुँचता है या पहुँचने की सम्भावना है।

—डा० महादेवप्रसाद शर्मा

पूंजीवाद का अर्थ—संक्षेप में 'पूँजीवाद' का अर्थ है—'अपने मुनाफे के लिए माल तैयार करने की वह उन्नत व्यवस्था जिसमें माल तैयार करने के साधनों पर अधिकार किसी एक या इने-गिने विशेष व्यक्तियों का हो; राज्य का या आम लोगों का नहीं।' पूँजीपति की अपनी जमीन होती है या वह जमीन खरीद लेता है; मशीनों, कल-कारखानों अर्थात् पूंजी पर उसका अधिकार होता ही है, जितने मजदूरों आदि की जरूरत हो, उनको नौकर रखकर वह श्रम पर भी अधिकार पा जाता है। इस तरह उत्पत्ति के तीनों साधनों—भूमि, पूँजी और श्रम—पर उसका स्वामित्व होता है।

पूंजीवाद से पहले की स्थिति—अठारहवीं सदी से पहले भी राजा और जमींदार कभी-कभी मजदूरों से कुछ काम अपने निजी लाभ के लिए

ऐसा कराया करते थे, जिसकी वे उन्हें मजदूरी बहुत कम देते थे, या बिलकुल नहीं देते थे। उस दशा में यह बात उनकी सत्ता के बल पर होती थी, पूँजी के बल पर नहीं। उस जमाने में समाज में एक वर्ग ऐसा हो गया था, जो उत्पत्ति या पैदावार न करके सिर्फ विनिमय का कार्य करता था; यह वर्ग व्यापारी वर्ग कहा जाता था। व्यापारी एक उत्पादक से कोई चीज मोल लेता और दूसरे उत्पादक आदि के हाथ बेचता ; मिसाल के तौर पर किसान से रुई लेकर उसे कातने वाले को देता, उससे सूत लेकर जुलाहे के हाथ बेचता, और जुलाहे से कपड़ा खरीदकर दर्जी के हाथ बेच देता। दो उत्पादकों के बीच में रहकर व्यापारी दोनों से नफा कमाता। इसके अलावा महाजन सूद पर रुपया उधार देता था। वह भी वास्तव में पैदावार का काम न करके धन कमाता था। लेकिन इन लोगों को पूँजीवादी नहीं कहा जाता था, और कहना ठीक भी न था; कारण, इन्होंने उत्पत्ति के साधनों को अपने अधिकार में नहीं कर रखा था। उस समय जुलाहा अपने करघे आदि का, बढ़ई अपनी कुल्हाड़ी, बसूले, आरे आदि का, और लुहार अपनी भट्टी, हथोड़े आदि का मालिक होता था। और, ये चीजें इतनी कम कीमत की होती थीं कि साधारण कारीगर भी इन्हें प्राप्त करने की व्यवस्था कर सकता था।

उत्पादन की नयी विधि; कल कारखाने—धीरे-धीरे अठारहवीं सदी में उत्पत्ति की नयी विधि निकली। भाप और पीछे बिजली और गैस आदि के आविष्कार ने उद्योग धंधों के बढ़ने में मदद दी। कल कारखानों को चलाने के लिए बहुत से आदमियों की जरूरत थी। जागीरदारों और महाजनों की ज्यादतियों के कारण बहुत से आदमी खेती का काम छोड़ने और मजदूरी करने को मजबूर हो गये थे। ये जहाँ-तहाँ अपनी मेहनत को बेचने की फिक्र में रहने लगे। कारखाने वालों ने इनकी ऐसी हालत से फायदा उठाया। उन्होंने इनकी जमीन खरीद ली। अब इन्हें मजदूरी करने के सिवाय कोई चारा ही न रहा। इनके अलावा अब कितने ही कारीगर भी कारखानों में आकर नौकरी करने के लिए मजबूर हो गये, क्योंकि उनका, हाथ से तैयार किया माल मशीनों से बने माल से महंगा पड़ने के कारण उसकी

माँग न रही थी, या बहुत कम हो गयी थी। इस तरह कारखानों को काफी, और काफी से ज्यादा मजदूर मिलने लगे, और उनके द्वारा खूब माल बनाया जाने लगा।

पहले माल पैदा करने का उद्देश्य, सामन्तों या सरकार के कर चुकाने के अलावा, यह हुआ करता था कि लोगों की जरूरतें पूरी हों, या एक उत्पादक अपनी चीज दूसरे को देकर उसके बदले में अपनी जरूरत की चीज उससे ले ले। अब बहुत-सा माल इसलिए पैदा किया जाने लगा कि वह बाजारों में बेचा जाय, और उससे खूब नफा कमाया जाय। इस हालत में पैदावार अधिक-से-अधिक परिमाण में, बड़ी मात्रा में, की जाने लगी। कारण, आम तौर से एक हद तक माल जितना अधिक तैयार किया जाता है, उतना ही औसत खर्च कम होता है, चीज सस्ती पड़ती है, नफे की गुंजायश अधिक रहती है।

पूंजीवाद का आरम्भ; औद्योगिक क्रान्ति—पूँजीवादी पद्धति को जन्म देने वाली प्रमुख घटना है, यूरोप की औद्योगिक क्रान्ति जो सबसे पहले इंग्लैंड में शुरू हुई। इसमें विज्ञान से बड़ी सहायता मिली; यंत्रों और मशीनों का आविष्कार हो जाने से कल कारखानों में माल जल्दी और बड़े पैमाने पर बनने लगा। इसमें लागत-खर्च का औसत कम रहता था। इससे चीजें कम दामों में बिकने लगीं। उपभोक्ताओं को चीजें सुलभ हो गयीं, पहले उन्हें संख्या या परिमाण में जो आवश्यक चीजें कम मिलती थीं, अब अधिक मिलने से उनका कष्ट कम हुआ। यह ठीक है कि लोगों के घरू धंधों का ह्रास होने से उनमें बेकारी आयी, परन्तु आरम्भ में उसका निवारण होता गया। बात यह थी कि कल-कारखानों में नित्य नया माल बनाने का और उत्पत्ति बढ़ाने का काम था। जो लोग घरू-धंधों से बेकार हुए, उन्हें कल-कारखानों में काम मिलने में विशेष कठिनाई न हुई।

औद्योगिक क्रान्ति से पूँजी वालों को लाभ होना ही था; उन्हें अपनी पूञ्जी का अधिक लाभदायक उपयोग करने का अवसर मिला। कारखानों में बने माल की बिक्री से जो बड़ी आय होती थी, उसका एक छोटा सा हिस्सा

कारखानों के मजदूरों को मिलता था, शेष सब धन मालिकों के पास रहता था। इस प्रकार कल-कारखानों के मालिकों का धन तेजी से बढ़ने लगा। उनके पास लाखों-करोड़ों की सम्पत्ति हो गयी। पूंजीवादी पद्धति से, इसके बचपन में, जनता को भी लाभ हुआ। लोगों को अपने निर्वाह तथा सामाजिक जीवन के लिए तरह-तरह की बहुत सी चीजें काफी और सस्ती मिलने लगीं। उन्हें बड़ी सुविधा हो गयी। उनकी परेशानी या चिन्ता कम हुई। पर ये बातें पूञ्जीवाद के आरम्भ-काल की ही हैं; पीछे पूञ्जीवाद के लाभ भ्रामक सिद्ध हुए, यह आगे बताया जाएगा।

पूंजीवाद का मुख्य लक्षण; उत्पत्ति और वितरण का केन्द्रीयकरण—पूञ्जीवादी पद्धति में जो मुख्य बात पहले सामने आती है, वह है उत्पत्ति का केन्द्रीकरण। उदाहरण के लिए कपड़े की बात लें। यह मिल में बनता है। इसके वास्ते दूर-दूर के गाँवों से हजारों मन रूई इकट्ठी की जाएगी। वहाँ विविध स्थानों से आये हुए हजारों मजदूर काम करेंगे, और लाखों गज कपड़ा तैयार होगा। मिल या कारखाने का मालिक एक व्यक्ति या कुछ इने-गिने व्यक्तियों की कोई कम्पनी होती है। उसे ही तमाम तैयार माल पर अधिकार होगा; उत्पादक वर्ग अर्थात् श्रमजीवियों को केवल निर्धारित मजदूरी ही मिलेगी।

इस प्रकार एक ही स्थान में एक व्यक्ति या कुछ इने-गिने व्यक्तियों की अधीनता में उत्पत्ति का केन्द्रीकरण हो जाता है। इससे जो माल तैयार होता है, वह पहले कुछ खास-खास स्थानों में (और पीछे देश के विविध भागों में) जाता है। इस तरह उत्पत्ति के साथ वितरण केन्द्रित हो जाता है। ये केन्द्रीय स्थान बड़े-बड़े नगर, शहर या कस्बे होते हैं। देश का आर्थिक जीवन खास-खास स्थानों में केवल थोड़े से व्यक्तियों में सीमित हो जाता है। यह ऐसा ही अस्वाभाविक है, जैसे शरीर का खून सब अंगों में बंटा हुआ न रह कर दो-चार या पाँच-सात जगहों में इकट्ठा हो जाय।

पूंजीवाद के लाभ; भ्रमात्मक और अस्थायी—पूञ्जीवाद से पूञ्जीपतियों को लाभ होने की बात पहले कही जा चुकी है। इनकी संख्या हजार पीछे और कुछ दशाओं में तो लाख पीछे एक-दो होती है। इन लोगों के लाभ में

से कुछ अंश इनके सहायकों आदि को मिल जाता है या मिलने की सम्भावना होती है, जिनमें कुछ उच्च कोटि के वैज्ञानिक, इंजीनियर या अन्य बुद्धिजीवी होते हैं। ये लोग अपने वर्ग के लाभ की आशा से इस पद्धति की प्रशंसा किया करते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ आदमी वैसे भी इसके गुणों की ओर ही अधिक ध्यान देने वाले होते हैं। इस प्रकार पूँजीवाद को कितने ही समर्थक मिल जाते हैं। इनके मतानुसार पूँजीवाद से क्या लाभ हैं, और उसका दूसरा पहलू क्या है, यह संक्षेप में आगे बताया जाता है—

१—कहा जाता है कि इस पद्धति से मुनाफे के रूप में आदमी को स्वार्थ-सिद्धि का यथेष्ट अवसर मिलता है, और क्योंकि आदमी स्वभाव से स्वार्थी होता है, उसे इस पद्धति में उत्पादन-कार्य लगन और परिश्रम से करने की प्रेरणा मिलती है, जो अन्य प्रकार से नहीं मिलती।

यह ठीक है कि आदमी में पशुपन होने से वह स्वार्थी है। पर इसका क्रमशः ह्रास हो रहा है। आदमी में सेवा, प्रेम और सामाजिकता या सहयोग की भी भावना है, जो उसके विकास के साथ बढ़ती जाती है और जिसे बढ़ाने में ही मनुष्य जाति का कल्याण है। स्वार्थ-सिद्धि की भावना तो आदमी को अत्यन्त लोभी बनाती है। यह समाज के लिए अनिष्टकारी है। इसे प्रोत्साहन नहीं दिया जाना चाहिए।

२—इस अर्थ-व्यवस्था में उत्पादक एक दूसरे से प्रतिस्पर्द्धा करते हुए अपना माल अधिक से अधिक बढ़िया, सुन्दर और सस्ता बनाते हैं; इसके लिए वे अच्छे से अच्छे यंत्र का उपयोग करते हैं, और खूब सावधान रहते और किफ़ायत से काम लेते हैं।

प्रतिस्पर्द्धा की भावना का प्रायः दुरुपयोग होता है, सहयोग की बात भुला दी जाती है, जो मानवता तथा सामाजिकता के विकास के लिए आवश्यक है। फिर प्रायः पूंजीपति अपने तत्कालीन लाभ को ध्यान रख कर, अपने विपक्षियों से बाजी मार ले जाने के लिए प्राकृतिक साधनों या खनिज पदार्थों आदि के उपयोग में दूरदर्शिता से काम नहीं लेते; वे अगली पीढ़ियों के हित को अवहेलना करते हुए जमीन में से कोयला, तेल और विविध धातुओं

अधिक से अधिक परिमाण में निकालते रहते हैं, जबकि जरूरत इस बात की है कि इन चीजों का उपयोग बहुत किफायत से किया जाय, इनका भंडार चिर काल तक बना रहे।

३—इस पद्धति से आराम, शौक और सुविधा देनेवाली वस्तुओं की उत्पत्ति होती है, और लोगों का रहनसहन का दर्जा ऊँचा होता है।

कृत्रिम आवश्यकताओं की वृद्धि आदमी के लिए सुखदायी नहीं, वे निरंतर बढ़ती रहती हैं, और मनुष्य के असंतोष, ईर्षा और चिन्ता को बढ़ाकर उसके जीवन को दुखमय बना देती हैं।

४—इस पद्धति से देश के विविध भागों का, तथा जुदा-जुदा देशों का एक-दूसरे से सम्बन्ध बढ़ता है। जाति, रंग, धर्म या राष्ट्र आदि के भेद-भाव दूर होते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों से सहायता मिलती है।

मानवसमाज में लोक-सम्पर्क बढ़ रहा है, और विश्व-संघ की ओर प्रगति हो रही है। इसका श्रेय विज्ञान और यातायात के साधनों की उन्नति को है। पूँजीवाद में एक देश के पूँजीपतियों ने आपस में, अथवा जुदा-जुदा देशों के पूँजीपतियों ने एक दूसरे से, जो सम्बन्ध स्थापित किया है, उसके मूल में उनका अपना मुनाफा और जनता का शोषण है, जिसका परिणाम पूँजीपति वर्ग में मानवता का ह्रास और सर्वसाधारण का अर्थ-संकट है।

५—इस पद्धति में वस्तुओं का अधिक से उपयोग किया जाता है। मिसाल के तौर पर गन्ने में से रस, तिल में से तेल, और दूध में से मक्खन जितना पहले निकलता था, अब मशीनों से उसकी अपेक्षा बहुत अधिक निकाला जाता है। इसके अलावा यह भी प्रयत्न किया जाता है कि अवशिष्ट या बच्चे हुए पदार्थों से यथेष्ट लाभ उठाया जाए, जैसे गन्ने की खोई, तिल की खली और दूध के मट्ठे की दूसरी उपयोगी चीजें बनायी जाएँ।

इस समय यांत्रिक क्रियाएँ होने पर गन्ने, तिल या दूध से जो खोई, खली या मट्ठा बचता है, वह पहले की अपेक्षा अधिक उपयोगी है या कम, यह विषय विवाद-ग्रस्त है। हम इसके विस्तार में न जाकर थोड़ी देर के लिए यही मान लेते हैं कि ये चीजें, हाथ की क्रिया से मिलने वाली इन चीजों की अपेक्षा

अधिक उपयोगी हैं। परन्तु जब कि पूँजीवादी मनोवृत्ति दूसरे पदार्थों का उपयोग करने और उनकी उपयोगिता बढ़ाने की ओर इतना ध्यान देती है, वह मानवता की अवहेलना करती है, जिसका आधार स्वार्थ-त्याग और लोकसेवा है।

६—पूँजीवादी पद्धति में श्रम-विभाग द्वारा प्रत्येक आदमी को उसकी योग्यतानुसार कार्य दिया जाता है। ऐसा नहीं होता कि बहुत कुशल श्रमजीवी को साधारण काम करना पड़े और उसके ज्ञान, अनुभव और कार्य-कुशलता से लाभ न उठाया जाय।

इस पद्धति में आदमी की रचनात्मक शक्ति का विशेष उपयोग नहीं होता। वह यन्त्र के साथ यन्त्र की तरह कुछ क्रियाएँ करता रहता है। उसे बहुधा यह पता नहीं होता कि उसके श्रम से कौनसी चीज बनेगी और वह क्या काम आएगी। वह लोगों का भरण-पोषण करेगी, उनकी विलासिता बढ़ाएगी, या उनका संहार करेगी। इससे आदमी की स्वाभिमान की भावना कुंठित हो जाती है, और सांस्कृतिक विकास रुका रहता है।

स्पष्ट है कि पूँजीवाद के लाभ भ्रमात्मक और अस्थायी हैं। इस पद्धति में मानवी गुणों का विकास न होकर भयंकर ह्रास होता है। पदार्थों की उपयोगिता बढ़ाने का दावा किया जाता है, परन्तु स्वयं मनुष्य की उपेक्षा की जाती है।

पूँजीवाद की वृद्धि विनाशकारी; उपभोक्ताओं की दृष्टि से—ज्यों-ज्यों पूँजीवाद अपना बचपन पूरा करके अधिक आयु का होता गया, उसके विघातक दुर्गुण सामने आते गये। पूँजीवादियों का मूल मन्त्र यह होता है कि अधिक से अधिक मुनाफा हासिल करें। यह तभी हो सकता है जब कल कारखानों में माल ज्यादा से ज्यादा बने, उसे बेचने की व्यवस्था की जाय; आवश्यकतानुसार नये-नये बाजार उसे बेचने के लिए तथा कच्चा माल खरीदने के लिए तलाश किये जायं। शुरू में जो माल तैयार किया गया वह जनता की मूल आवश्यकताएँ पूरी करने वाला था, उसकी खपत होने में कोई बाधा न हुई। पीछे ज्यों-ज्यों कल कारखाने बढ़ते गये, तैयार माल का परिमाण अधिक होता गया। पूंजीपतियों ने जब यह देखा कि उनके कपड़े,

लोहे आदि के सामान तथा दूसरी जरूरी चीजों की, और अधिक परिमाण में, खपत होने में कठिनाई है, या उसमे काफी मुनाफा नहीं होता तो वे तरह-तरह के शौकीनी या विलासिता के पदार्थ तैयार करने लगे, जिससे ग्राहक उनकी ओर ज्यादा-ज्यादा आकर्षित हों। इस प्रकार लोगों को अपनी जरूरतें बढ़ाने के लिए प्रेरित किया गया। अनेक गरीब आदमी अपनी मूल आवश्यकताओं के पदार्थों की उपेक्षा करके, उनकी खरीद घटा कर दिखावटी या कृत्रिम जरूरतों की चीजों को लेने लगे। यह कहा जाने लगा कि लोगों के रहनसहन का दर्जा ऊँचा हो रहा है, पर वास्तव में जब आदमी अपनी विलासिता या शौकीनी बढ़ाता है तो उसमें सुख नहीं पाता; बल्कि इसके कारण जब उसकी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति में बाधा हो जाती है, अर्थात् वह उसमें कमी करता है तो उसकी बहुत हानि होती है, उसका स्वास्थ्य खराब होता है, धनाभाव की चिन्ता से उसकी मानसिक अशान्ति बढ़ती है, वह अधिक स्वार्थी बन जाता है, उसका आत्मिक ह्रास होने लगता है। इस तरह पूँजीवाद ने लोगों को हर प्रकार से बर्बाद किया।

समुद्र में भी मीन प्यासी—पूँजीवाद ने अन्न-वस्त्र के विशाल भंडार होते हुए भूखे नंगों का दृश्य उपस्थित कर दिया। संसार में इतनी वैज्ञानिक प्रगति हो गयी है कि यदि मशीनों का ठीक उपयोग किया जाय और उत्पन्न प्रदार्थों का वितरण उचित रीति से हो तो वर्ष में कुछ सप्ताह काम होने से मनुष्य अपना जीवन बहुत मजे से बिता सकता है और अपनी संतान को भी संघर्ष और कठिनाइयों से बचा सकता है। परन्तु पूँजीवाद के कारण फी सैकड़ा कुछ इने-गिने व्यक्तियों को छोड़कर, शेष सब आराम और सुविधा तो क्या, अपनी साधारण खाने-पीने और पहिनने की जरूरतों को भी पूरा नहीं कर पाते। कुछ बड़े-बड़े व्यवसायी आपस में मिल कर एक गुट्ट बना लेते हैं, फिर जान बूझ कर चीजें कम पैदा करके उनका दाम और अपने नफे की दर ऊँची बनाये रखने में कामयाब हो जाते हैं। कभी-कभी तो वे बहुत सा माल नष्ट कर देते हैं, जिससे उसकी कीमत न गिरने पाए और उनके मुनाफे में कमी न हो। कनाडा ने एक बार लाखों मन गेहूँ जला दिया

और जमीन में उगी फसल टिड्डियों को खिलादी। ब्राजील में कहवा नष्ट किया गया और इङ्गलैण्ड में संतरे नदी में बहा दिये गये। ये सब कठोर सत्य हैं। पहले ऐसा था कि खाद्य पदार्थ कम होने से आदमी भूखे रहते थे, अब पूँजीवाद के कारण खाद्य पदार्थ खूब काफी परिमाण में होते हुए भी साधारण जनता उनका उपयोग नहीं कर पाती।

उत्पादकों की दृष्टि से विचार; मजदूरों की अवहेलना—यह तो उपभोक्ताओं की बात हुई। अब उत्पादकों अर्थात् मजदूरों का विचार करें। पूँजीपति अच्छी तरह जानता है कि कल-कारखानों में जो माल तैयार होता है, उसके लिए मजदूरों को सख्त मेहनत करनी पड़ती है, पर वह मजदूरी की मद में कम-से-कम खर्च करना चाहता है। जब उसे मालूम होता है कि किसी ऐसी नयी मशीन से काम लिया जा सकता है, जिसमें कम मजदूरों की जरूरत होगी और इस तरह खर्च में किफायत रहेगी तो वह झट उस मशीन से काम लेने लगता है, और फालतू मजदूरों को निकाल बाहर करता है। इस तरह पूंजीवाद में जहाँ एक ओर मुट्ठी भर पूँजीपतियों के पास ज्यादा-ज्यादा धन जमा होता रहता है, दूसरी तरफ गरीबों की संख्या बढ़ती जाती है।*

वर्ग-सङ्घर्ष—पूँजीवादी पद्धति से औद्योगिक देशों में समाज के खास तौर से दो वर्ग हो जाते हैं। एक वर्ग होता है, उन बड़े-बड़े कल-कारखानों के मालिकों का, जो पूंजीपति बने हुए हैं और जिनकी तिजोरियों में बड़े-बड़े कारखानों की आमदनी का बहुत बड़ा भाग जमा होता रहता है। इन्हें कोई शारीरिक श्रम नहीं करना पड़ता। ये केवल पूंजी लगा कर अपनी बुद्धि या चतुराई चलाकी से अधिकाधिक मालामाल होते जाते हैं। दूसरा वर्ग है उन मजदूरों का, जो मिलों और कारखानों में दिन-रात मेहनत करके भी

---

*"पूँजीवाद का 'पूँजीवाद' नाम गलत रखा गया है। वह हमको भ्रम में डाल देता है। उसका योग्य नाम तो 'दरिद्रवाद' है। उससे भयंकर दरिद्रता का जन्म होता है।" —समाजवाद : पूंजीवाद

मालिकों की आय की अपेक्षा नगण्य सी मजदूरी पाते हैं—कभी दसवां या बीसवां हिस्सा और कभी पचासवें हिस्से से भी कम। यह आर्थिक विषमता उनमें असंतोष बढ़ाती रहती है, और वे बहुधा संगठित होकर अपनी मांगें मालिकों के सामने रखते रहते हैं और समय-समय पर हड़ताल का आसरा लेते हैं। मिलों और कारखानों के मालिक समय-समय पर मजदूरों की वेतन तथा सुविधाएँ कुछ बढ़ा देते हैं। पर उपर्युक्त विषमता तो बनी ही रहती है। इस तरह दोनों वर्गों में संघर्ष होता रहता है।

बेकारी, शरीर-श्रमियों की, तथा बुद्धिजीवियों की—पूंजीवादी उत्पादन-पद्धति से आरम्भ में विशेष संकट उन लोगों पर आया जो अपने घरों में चरखे से सूत कातकर अथवा करघे पर कपड़ा बुन कर अपनी आजीविका स्वतन्त्रता-पूर्वक कमाते थे। इसी प्रकार दूसरे स्वतन्त्र कारीगरों का भी आजीविका का साधन छिन गया। मिलों और कारखानों का माल इतना सस्ता और साथ ही बढ़िया बनने लगा कि बेचारे कारीगर मुकाबले में खड़े न रह सके। उनके काम की मांग कम रह गयी, वे असहाय हो गये। उनके सामने अपने निर्वाह का यही उपाय रह गया कि कहीं मेहनत-मजदूरी करें। कारखानों से जितने कारीगरों का काम छिन जाता है, उनमें से कुछ को नयी चीजें बनाने का काम मिल जाय तो भी अधिकांश को बेकार ही रहना पड़ता है। फिर, जब किसी नयी बढ़िया मशीन का आविष्कार होता है तो और भी अधिक आदमी खाली हो जाते हैं। क्योंकि कुछ मशीनें ऐसी भी बनने लगी हैं जो क्लर्कों का खास प्रकार का काम कर सकती हैं, अब केवल शरीर-श्रम करनेवालों की ही नहीं, पढ़े-लिखे आदमियों की भी बेकारी बढ़ती जाती है। इस विषय के कुछ तथ्य आगे दिये जाते हैं।

'हेनरी फोर्ड ने मोटर के 'टी' नमूने को बदल कर 'ए' नमूना दाखिल किया और अनिश्चित समय के लिए ६०,००० आदमियों को बेकार बना दिया। केवल २० साल पहले एक हजार एकड़ जमीन जोतने के लिए ५०० आदमी और १००० बैलों की जरूरत होती थी। लेकिन आज केवल

दस ट्रैक्टर इसके लिए काफी हैं। कुछ साल पहले ५०० आदमी जितना कच्चा लोहा खोदकर निकालते थे, उतना आज भाप से चलने वाला एक बेलचा या खुरपा खोदकर रख देता है। श्री ग्रेग अपनी 'आशा का मार्ग कौनसा?' पुस्तक में एक नये अमरीकी आविष्कार के बारे में बताते हैं। यह आविष्कार अणु शक्ति से विचार करनेवाली मशीनों का है, जो गणित की अत्यन्त पेचीदी समस्याएँ तेजी से हल कर सकती हैं और अमुक प्रकार का निर्णय भी कर सकती हैं।'*

जनतन्त्र का ह्रास—पहले कहा गया है कि पूंजीवाद से उत्पादन और व्यापार का केन्द्रीकरण हो जाता है। इससे आर्थिक विषमता का बढ़ना, श्रमजीवियों का पराधीन हो जाना तथा उनका शोषण होना और व्यक्तिगत साहस का लोप होना तो स्पष्ट ही है। इसके अतिरिक्त जनतन्त्र का भी भयंकर ह्रास होता है। जैसा कि श्री प्रोफेसर शंकरसहाय सक्सेना ने लिखा है, 'यदि किसी देश में आर्थिक शक्ति का केन्द्रीकरण हो जाता है—फिर चाहे वह आर्थिक शक्ति केवल कुछ बड़े धन-कुबेरों के पास हो अथवा राज्य के हाथ में हो—तो जनतन्त्र मृतप्रायः हो जाता है। उस दशा में चाहे हमारा ढांचा जनतन्त्री भले ही हो, उसका प्राण निकल जाता है, उसका केवल शव रह जाता है। आर्थिक स्वतन्त्रता के बिना राजनैतिक स्वतन्त्रता की कल्पना व्यर्थ है।'†

साम्राज्यवाद—पूंजीवाद में कल-कारखानों से अधिकाधिक माल बनाने पर जोर दिया जाता है, इसी से पूंजीपतियों को अधिक लाभ है। परन्तु लोगों की माल खरीदने की शक्ति की आखिर एक सीमा है। वे कारखानों का निरन्तर बढ़ता हुआ माल, हाथ से बने समान से सस्ता होने पर भी, सब का सब नहीं खरीद पाते। माल बाजार में या गोदामों में पड़ा सड़ने लगता है और उसके खराब होने की नौबत आती है। आगे माल का उत्पादन घटाना

---

* 'हरिजन सेवक', ३१ जनवरी १९५३

† 'समाज-शास्त्र', अप्रेल १९५३

पड़ता है; कल-कारखानों में लगी हुई पूंजी से उसका सूद निकलना भी मुश्किल होने लगता है।

जब पूंजीपतियों को यह मालूम होता है कि कल-कारखाने चलाना और माल पैदा करना नफे का काम नहीं है तो वे पूंजी को बैंकों में लगाकर लाभ उठाने लगते हैं; पीछे जब यह काम भी लाभकारी नहीं रहता तो वे अपने देश से बाहर, विदेशी बाजारों की ओर नजर दौड़ाते हैं। वे चाहते हैं कि तैयार माल की बिक्री के लिए चारों ओर खुला क्षेत्र रहे, मुक्त-द्वार व्यापार हो, कोई बाधा न हो। अधिक-से-अधिक बाजार पर आधिपत्य जमाना, उनकी सफलता के लिए अनिवार्य होता है; प्रलोभन देकर तथा लड़झगड़ कर बाजार का क्षेत्र बढ़ाया जाता है। वे ऐसे देशों के बाजारों पर अधिकार जमाने की जी-तोड़ कोशिश करते हैं, जो उनका तैयार माल खरीदें और उन्हें कच्चा माल देते रहें। इसमें उन्हें अपनी सरकार का सहारा मिलता रहता है, और सरकार पर उनका प्रभाव भी बहुत अधिक होता है।

तैयार माल की खपत तथा कच्चे माल की प्राप्ति उन्हीं देशों में होती है, जहाँ उद्योग धंधों का विकास न हुआ हो। मशीनों द्वारा औद्योगिक उन्नति संसार भर में सब से पहले इंगलैंड में हुई। अंगरेज अपने व्यापार के लिए, पिछड़े हुए देशों में पहुँचे, और वहाँ धीरे-धीरे अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया। यूरोप के दूसरे राष्ट्रों ने भी अपने उपनिवेश बसाने, और साम्राज्य बढ़ाने की जी-तोड़ कोशिश की। इनकी आपस में खूब लड़ाइयाँ हुईं। आखिर, उन्नीसवीं सदी के अन्त और बीसवीं सदी के प्रारम्भ में संसार का अधिकांश भाग इनके अधीन हो गया। एक-एक राष्ट्र ने अपने से कई गुनी आबादी और क्षेत्रफल वाले देशों पर अधिकार जमा लिया। इंगलैंड, फ्रांस, हालैंड, बेलजियम, इटली, जर्मनी आदि सभी पूंजीवादी राष्ट्र साम्राज्य-वादी बन गये।

महायुद्ध—पूंजीवादी राष्ट्रों की आपस में प्रतिद्वन्दिता करने की बात ऊपर कही गयी है। यूरोप के बीसवीं सदी के दोनों महायुद्ध पूंजीवाद और साम्राज्य-वाद के ही कारण हुए हैं। पूंजीवादी राष्ट्रों में निरंतर संघर्ष होता रहता है।

युद्ध ठनता है, जो आजकल के वैज्ञानिक साधनों और आविष्कारों की सहायता से अधिकाधिक व्यापक और विस्तृत होता है, जिसमें जन-धन का भयंकर विनाश होता है। यह है, पूँजीवाद का निश्चित परिणाम! कितना घातक है यह! मनुष्य जाति कहाँ आ पहुँची!

अन्याय और हिंसा—याद रहे कि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का जन्म जिस औद्योगिक क्रान्ति से हुआ, वह अन्याय और अहिंसा से ओतप्रोत थी। सुप्रसिद्ध विचारक श्री विलफ्रेड वेलाक ने ठीक कहा हैं—'औद्योगिक क्रान्ति के मूल में वास्तव में अन्याय था, और उस क्रान्ति के उद्देश्य में और उसके प्राप्त करने के तरीके में भी हिंसा निहित थी। उस कान्ति का उद्देश्य था अधिकाधिक उत्पादन, अधिकाधिक बिक्री और अधिकाधिक मुनाफा; और उसका तरीका था न्यूनतम वेतन, अधिकाधिक काम के घंटे, और सस्ते से सस्ता कच्चा माल खरीद कर उत्पादन-व्यय कम से कम करके मँहगे से मँहगे बाजारों में बेचकर अधिकाधिक कीमत प्राप्त करना। औद्योगिक क्रान्ति ने बाजारों को हथियाया, सामानों की स्थिति संगठित की, जहाजी तोपों से बन्दरगाहों को खुलवाया और बाजारों को अपने कब्जे में किया। उसने चुंगियों पर नियंत्रण स्थापित किया और जंगी जहाजों और सशस्त्र सैनिकों के जरिये से औपनेविशिक क्षेत्रों को गुलाम बनाया तथा उनके बाजारों पर अपना एकाधिकार स्थापित किया और इस प्रकार उपनिवेशों में सस्ते श्रम द्वारा उत्पादित अत्यावश्यक सामग्रियों को हस्तगत किया।'*

पूँजीवाद का क्षय रोग—जैसा पहले कहा जा चुका है, अपने लाभ के लिए पूंजीपति अधिक से अधिक माल तैयार करना चाहते हैं, पर लोगों की माल खरीदने की शक्ति की एक सीमा है। कुछ समय आगे-पीछे कारखानों में तैयार माल खपने में बाधा आ जाती है, तब उसका अधिक उत्पादन रोकना होता है, अथवा उत्पादन की गति मंद करनी पड़ती है। इससे पूंजीवाद की असफलता का स्पष्ट प्रमाण मिल जाता है। जिन

---

*'आर्थिक समीक्षा'—कांग्रेस अधिवेशनांक, १७ जुलाई १९५३

औद्योगिक राज्यों के अधीन बड़ी आबादी वाले देश होते हैं, वहाँ यह स्थिति देर में आती है। इङ्गलैण्ड का साम्राज्य खूब फैला हुआ था, इस लिए वहाँ पूंजीवाद का मार्ग अधिक समय तक साफ रहा। पर इसके लिए भारत आदि अधीन देशों को ऐसा आर्थिक संकट सहना पड़ा कि अब स्वतन्त्र होने पर भी काफी समय तक उसकी याद बनी रहेगी। अस्तु, पूंजीवाद में भीतरी विरोध है, इसके शरीर में क्षय के कीटाणु हैं। यह अपने अधीन देशों तथा औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए भागों का शोषण करके ही जी सकता है। कुछ समय आगे-पीछे अधीन देश स्वतन्त्र होने वाले हैं, और पिछड़े हुए भागों का भी उन्नति करना अनिवार्य है। इस प्रकार पूंजीवाद के साथ उसके क्षय का योग लगा हुआ है।

पूँजीवाद का विरोध और उसकी प्रतिक्रिया—पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के विरोध में कई विचारधाराएँ पैदा हुईं, उनमें मार्क्सवाद मुख्य था। यह समाजवाद के नाम से फैला। इसके कई भेद हुए, जिनमें से एक साम्यवाद का तो स्वतन्त्र ही स्थान बन गया। इसके सम्बन्ध में खुलासा विचार आगे किया जाएगा। यहाँ यह जिक्र करना है कि शोषण का अन्त करने या वर्गहीन समाज की स्थापना करने के ये प्रयत्न कितने ही आदमियों को अच्छे नहीं लगे। फिर, नयी व्यवस्था से जिन लोगों के स्वार्थों को धक्का पहुँचने की सम्भावना थी, उनके द्वारा इनका विरोध होना स्वाभाविक था। निदान, प्रथम यूरोपीय महायुद्ध के बाद फासिस्टवाद और नाजीवाद आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ, जिनका उद्देश्य यह था कि मध्य श्रेणी की सहायता से निरंकुश शासन और अधिनायकवाद या तानाशाही (डिक्टेटरशिप) के रूप में पूंजीवाद की रक्षा की जाय।

फासिस्टवाद—फासिस्टवाद का प्रादुर्भाव मुसोलिनी के नेतृत्व में, इटली में हुआ। उसका लक्ष्य महायुद्ध से क्षतिग्रस्त और जर्जर इटली की दशा सुधारना और उसे, स्वावलम्बी ही नहीं, एक शक्तिशाली राष्ट्र बनाना था। वहाँ श्रमिक आन्दोलन को दबाया गया, जिससे पूंजीपति उत्पादन-कार्य में अधिक से अधिक पूंजी लगाएँ, और उत्पादन बढ़े। पर साथ ही पूंजीपतियों पर नियंत्रण

लगाया गया कि वे उत्पादन का उपयोग अपने स्वार्थ के लिए न कर राष्ट्र के लिए करें। यदि वे किसी उद्योग को ठीक तरह न चला सकें तो उस उद्योग को उनसे ले लिया जाय, उसे राज्य चलाए। श्रमिकों के लिए भी यह नियम किया गया कि वे किसी काम को बन्द न करें, व्यवसायिक हड़ताल न करें; ऐसा करने वाले को कठोर दंड दिया जाय। इस प्रकार वहाँ निजी उद्योग और व्यवसाय बने रहे, पर उन पर राज्य का कड़ा नियंत्रण रहा।

फासिस्टवाद के अनुसार राज्य के लिए दूसरे देशों पर आक्रमण करके अपना अधिकार-क्षेत्र बढ़ाते रहना आवश्यक है। युद्ध अनिवार्य है। मनुष्यों का काम है कि अपने आपको राज्य के अर्पण करने की भावना रखते हुए युद्धों में मरने को तैयार रहें, और स्त्रियों का काम है कि पुत्र पैदा करती रहें, जिससे जन-संख्या में युद्ध से होने वाली क्षति की पूर्ति ही न हो, वरन् वह निरन्तर बढ़ती रहे।

फासिस्टबाद में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नहीं होती। व्यक्ति राज्य के लिए माना जाता है, और राज्य के सब अधिकारों का केन्द्रीकरण होता है। राज्य का बल और एकता बढ़ाने के लिए लोकतन्त्री शासन, जिसमें एक से अधिक दल होते हैं, समाप्त कर दिया जाता है।

फासिस्टवाद अपनी जन्मभूमि इटली से दूर-दूर तक फैला। बाहर, यह विशेष रूप से जापान में सामने आया। वहाँ जातीय श्रेष्ठता की भावना ने उग्र रूप धारण किया; यह समझा जाने लगा कि जापान सब पूर्वी राष्ट्रों का नेता होने योग्य है, और उसे अपना सैनिक बल बढ़ा कर यह कार्य करना चाहिए। उसे अपना साम्राज्य अधिकाधिक बढ़ाना चाहिए। सम्राट् का किसी को विरोध न करना चाहिए, वह पूज्य है, उसके लिए नागरिकों को युद्ध में भाग लेने और प्राणों का बलि देने के लिए तैयार रहना चाहिए। जापान चीन को जीत कर एशिया की रक्षा कर सकता है और एशिया को जीत कर संसार भर में अपना शासन स्थापित कर सकता है। इस भावना ने जापान को कैसा युद्ध-प्रेमी, महत्वाकांक्षी तथा अभिमानी बनाया और पीछे किस प्रकार उसका गर्व

चूर्ण होने के अतिरिक्त जनता को घोर संकट सहना पड़ा, इसके ब्योरे में हमें जाना नहीं है।

नाजीवाद—नाजीवाद फासिस्टवाद से बहुत मिलता है, और इसे उसका जर्मन संस्करण कहा जा सकता है। उसकी तरह नाजीवाद का भी सिद्धान्त है कि व्यक्ति राज्य की उन्नति में ही अपनी उन्नति समझे और उसके वास्ते अपना तन-मन-धन अर्पण करने को तैयार रहे। राज्य ही ध्येय या साध्य है; व्यक्ति तो उसके लिए एक साधन मात्र है। नाजीवाद एक बात में फासिस्टवाद से भिन्न रहा। इसके जन्मदाता हिटलर ने इस विचार को खूब फैलाया कि जर्मन लोग आर्य जाति की सबसे श्रेष्ठ शाखा के हैं, उनकी सभ्यता और संस्कृति संसार भर में सबसे ऊँची है, इस जर्मन जाति को शुद्ध रखना हमारा परम कर्तव्य है। भारतीय पाठक अच्छी तरह जानते हैं कि जाति या वर्ण का घमंड कैसे-कैसे झगड़ों का कारण होता है, और यूरोप अमरीका की गौरांग जातियों ने अपने रंग वालों को ऊँचा मान कर संसार में कितना विनाश-कार्य किया है। हिटलर की यह 'जर्मन जाति की श्रेष्ठता' की बात भी उसी श्रेणी की थी; और, जर्मनी के बलवान प्रभुता-प्राप्त लोगों में इस का विष फैलना बहुत ही अनर्थकारी हुआ। यहूदियों को अमानुषिक अत्याचारों का शिकार होना पड़ा।

नाजीवाद से जर्मनी में एक मात्र नाजीदल की सरकार बनी। शासन का पूरे तौर से केन्द्रीकरण हो गया। राज्य का अधिकार-क्षेत्र बहुत बढ़ गया। पार्लिमेंट की सत्ता नाममात्र को रह गयी। हिटलर ही राष्ट्र का प्रतीक या मूर्तिमान स्वरूप माना जाने लगा। धार्मिक संस्थाएँ भी राष्ट्र के अधीन थीं। परिवार पर भी राष्ट्र का नियंत्रण था; स्त्रियों का मुख्य कार्य सन्तान पैदा करना माना जाता था। शिक्षा भी राज्य के नियंत्रण में थी; शिक्षा-संस्थाएँ नाजीवाद के प्रचार की सब से उत्तम साधन मानी जाती थीं।

विशेष वक्तव्य—जर्मनी के नाजी, और इटली के फासिस्ट दल आतंककारी शक्ति बन गये थे; सारे यूरोप में उनकी धाक जम गयी थी। इन राज्यों की तानाशाही का कुछ ही दिनों में इतना बल बढ़ गया था कि कई दूसरे देशों

में भ तानाशाही का सिद्धान्त अपनाया जाने लगा था। दूसरे यूरोपीय महा-युद्ध (१९३९—४५) में इन शक्तियों की पराजय हुई। परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि इन विचारधाराओं का लोप हो गया। अब भी कई देशों में थोड़े-बहुत रूप में ये मौजूद है, और मौका पाकर पनप सकती हैं। मानव हितैषियों का कर्तव्य है कि जिन कारणों से इन विचारधाराओं को कुछ बल मिलता है, उन्हें दूर करें।

याद रहे कि नाजीवाद हो या फासिस्टवाद, कोई भी पूँजीवाद से होने वाली बुराइयों को दूर नहीं करता। ये तो गरीबों या मध्य श्रेणी वालों का नियंत्रण करते हुए पूँजीवाद को कुछ दूसरे रूप में बनाये रखना चाहते थे। परन्तु समय का प्रवाह पूँजीवाद को नष्ट करने वाला है, इसे कोई रोक नहीं सकता। वह बहुत-कुछ अपने ही भीतरी रोग से मर रहा है। फिर, समाजवाद और साम्यवाद का प्रबल वेग है और अब तो मानव प्रगति सर्वोदय की ओर होने लगी हैं। इनका विचार आगे किया जायगा।

पाँचवाँ अध्याय

समाजवाद

सामाज्यवाद की बुराइयों के प्रतिक्रिया-रूप कुछ विचार पैदा हुए—जिनमें से मार्क्सवाद भी एक था—जो उस जमाने में तो बहुत परिणामकारी हुए। लेकिन जिसके विरोध में वे खड़े हुए थे, उसके खतम होते-होते वे भी खतम होते जा रहे हैं। —विनोबा

समाज से सदा के लिए शोषण का अन्त करने के वास्ते आवश्यक है कि वर्गहीन समाज की स्थापना की जाय जिसमें लाभ के लिए नहीं, बल्कि सर्वहित के लिए मनुष्य कार्य करें। यह बात हमारे ऋषि-महर्षि करते आये हैं। परन्तु उसका वैज्ञानिक पद्धति से निरूपण सबसे प्रथम मार्क्स ने किया है। —धर्मदेव शास्त्री

पूँजीवाद पद्धति में समाज में, जो शोषण और आर्थिक विषमता होती है, उसे मिटाने के लिए आरम्भ में जो विचारधाराएँ सामने आयीं, उनमें समाज-वाद मुख्य है। इस अध्याय में उसका विचार किया जाता है।

सामाजिक भावना—यों तो मनुष्यों में एकान्तवास की भी प्रवृत्ति है तथापि वे अधिकतर एक दूसरे से मिलजुल कर रहना चाहते हैं, जिससे उन्हें अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने में सुविधा हो और सब प्रेम और सहयोग से जीवन बिताएँ। इसी भावना से मनुष्य परिवार बनाता है, जाति और राष्ट्र का निर्माण करता है। वह गाँव, नगर और देश की रचना करता है। यथेष्ट प्रगति करने पर वह संसार के विविध भागों से सम्बन्ध जोड़ता है। मनुष्य की यह सामाजिक जीवन बिताने की प्रवृत्ति थोड़ी-बहुत चिरकाल से है। आदमी ने दूसरे का कष्ट निवारण कर उसे सुख पहुँचाया है, और अपने कष्टों के निवा-रण में तथा सुख बढ़ाने में दूसरों का सहयोग प्राप्त किया है। इसी का स्थूल

या मूर्त रूप दान-धर्म है। भारतवर्ष में और कुछ कम-ज्यादा सभी देशों में दान-धर्म, सदाव्रत, आदि का चिरकाल से प्रचार रहा है; यहाँ तक कि समय-समय पर अपना सर्वस्व दूसरों के अर्पण करने वाले हरिश्चन्द्रों का अभाव नहीं रहा है। अनेक उदार महानुभावों ने लोकहित के लिए अपने पुत्र स्त्री आदि का सहर्ष दान किया है, और स्वयं अपने शरीर का सबसे अच्छा उपयोग लोकसेवा में उसकी आहुति देना ही माना है। कहीं कहीं समाज-व्यवस्थाओं में ऐसी झलक देखने में आती है; उदाहरण के लिए भरत की वर्ण-व्यवस्था, तथा अफलातून (यूनान) आदि की समाज-व्यवस्था में यह सिद्धांत किसी-न-किसी रूप में रहा है।

समाजवाद के मुख्य लक्षण—समाजवाद आधुनिक काल में पूँजीवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया है। इसकी परिभाषा और व्याख्या समय-समय पर बदलती या विकसित होती रही हैं, और जुदा-जुदा विद्वानों के इसके सम्बन्ध में अनेक मत हैं। स्थूल रूप से इसके मुख्य लक्षण ये हैं—इसमें उत्पादन के साधनों पर व्यक्ति या संस्था का निजी अधिकार नहीं होता, वे सब सरकार जैसी किसी सार्वजनिक सत्ता की मिल्कियत होते हैं। उनसे जो उत्पादन होता है उसमें मुनाफे की भावना नहीं रहती, बल्कि उसकी प्रेरक शक्ति लोकसेवा की भावना होती है। इसमें पीछे इस विचार का भी समावेश हो गया कि उत्पादन अच्छी तरह सोच विचार कर बनायी हुई योजना के अनुसार हो। इसमें एक ऐसी सत्ता का अस्तित्व मान लिया गया जो सारी आर्थिक प्रणाली सम्बन्धी आवश्यक आंकड़े आदि तैयार करे और उत्पादन के प्रत्येक विभाग पर पूरी देखरेख रख सके। इसमें जनता की आवश्यकताओं तथा सुविधाओं का विचार रहता है।

समाजवादी व्यवस्था में उत्पादन-कार्य सरकार द्वारा होता है
पूँजीपति, जमीदार और व्यवस्थापक या उद्योग-साहसी है। इस प्रकार सूद और लगान का प्रश्न नहीं रहता। जो मुनाफा होता है, वह सार्वजनिक कार्यों में लगाया जाएगा। काम करने लायक प्रत्येक व्यक्ति को काम करना होता है। कोई आदमी खाली बैठे नहीं खा-पी सकता। काम करने वालों

को वेतन उनके कार्य के अनुसार जुदा-जुदा दर से दिया जाता है, अर्थात् अधिक कुशल श्रमियों को दूसरों की अपेक्षा अधिक दिया जाता है, पर निर्वाह-वेतन हर किसी को मिलता है। भोजन, वस्त्र, मकान, शिक्षा, चिकित्सा आदि की व्यवस्था सरकार द्वारा की जाती है।

समाजवाद और व्यक्तिवाद—समाजवाद को अच्छी तरह समझने के लिए खास बात यह याद रखनी चाहिए कि यह व्यक्तिवाद का विरोधी है। समाजवाद में मूल भावना सहयोग और सहकारिता है, जबकि व्यक्तिवाद में प्रतिस्पर्द्धा और संघर्ष है। समाजवादी विश्वास करता है कि मनुष्य में लोकहित का विचार प्रधान है, जबकि व्यक्तिवाद के अनुसार हरेक आदमी अपने-अपने हित या स्वार्थ की बात सोचता है, और उसे ध्यान में रखकर अपना कार्यक्रम स्थिर करता है। व्यक्तिवादियों का मत है कि लोगों को सरकार अपना-अपना कार्य स्वतंत्रता-पूर्वक करने दे; जब उनमें आपस में विवाद या झगड़ा हो तो राज्य उसे निपटा दे। लेकिन राज्य को उनकी शिक्षा, स्वास्थ्य, आजीविका, बीमारी, बेकारी, मजदूरी आदि में कोई हस्तक्षेप न करना चाहिए। व्यक्तिवादियों का मत है कि कारखानों के सम्बन्ध में राज्य को इस बात से कोई प्रयोजन नहीं कि वहाँ मजदूर कितने घंटे काम करते हैं, रात को भी काम होता है या सिर्फ दिन में ही, काम करनेवालों की उम्र क्या है, क्या वहाँ बालक और स्त्रियाँ भी काम करती हैं, कारखाने का स्थान स्वास्थ्यप्रद है, मजदूरों को कितना वेतन मिलता है, छुट्टी कितनी और कब मिलती है, इत्यादि। ये बातें पूँजीपति और मजदूरों के आपस में तय करने की हैं। जब वे दोनों सहमत हों तो राज्य को बीच में दखल देने की जरूरत नहीं। इसी तरह तैयार माल में से कितना विदेशों को भेजा जाए, कीमत क्या रखी जाए, मुनाफा कहाँ तक रहे, कौनसा माल कितने परिमाण में विदेशों से मंगाया जाए, इन बातों को खरीदने-बेचने वाले जानें, राज्य को इनसे क्या मतलब!

इसके विरुद्ध समाजवाद में, जैसा कि ऊपर कहा गया है, उत्पादन के साधनों पर तथा तैयार माल पर राज्य का पूरा नियंत्रण रहता है। वही यह

निश्चय करता है कि कौनसा माल, कितने परिमाण में बनेगा, तथा कितना बाहर भेजा जाएगा, मजदूरों या कार्यकर्ताओं को कितना पारिश्रमिक मिलेगा और स्वास्थ्य, शिक्षा आदि की क्या व्यावस्था की जायगी।

समाजवाद का वैज्ञानिक विवेचन; मार्क्सवाद—प्राचीन समाज-व्यवस्थाओं या विचारधाराओं में सामाजिकता, लोकहित या दया परोपकार आदि की भावना चाहे जितनी हो, समाजवादी योजना की दृष्टि से उनका विशेष महत्व नहीं। वास्तविक समाजवाद का सिद्धान्त आधुनिक है; समाज और राज्य की व्यवस्था को बदलने और उसे नया स्वरूप देने का विचार उन्नीसवीं 'सदी से होने लगा। शोषित मजदूरों और उनके हितैषियों ने पूंजीवाद के विरुद्ध जोरदार आवाज उठायी। इन्होंने अब दया, सहानुभूति या मेहरबानी के लिए प्रार्थना नहीं की; इन्होंने अपने अधिकारों की माँग की। नयी व्यवस्था चलाने के सम्बन्ध में समय-समय पर अनेक लेखकों ने अपने विचार जाहिर किये हैं। खास तौर से सिलसिलेवार और वैज्ञानिक ढङ्ग से विचार करने वालों में जर्मनी के क्रान्तिकारी विद्वान कार्लमार्क्स (१८१८-८३) का नाम मशहूर है। उसने एन्जिलस के साथ मिलकर सन् १८४८ में 'कम्यूनिस्ट मेनिफेस्टो' (साम्यवादी घोषणा) लिखी, इसमें साम्यवाद के सिद्धांतों का विवेचन किया। पीछे मार्क्स ने 'केपिटल' नाम के दूसरे महत्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की; इसमें पूंजी और पूंजीवाद के विषय में ब्योरेवार विचार किया गया है। इन दोनों ग्रन्थों में वर्णन किये हुए सिद्धान्तों को ही मार्क्सवाद माना जाता है। पीछे विविध विद्वानों ने इस विषय पर अपनी-अपनी आलोचना-प्रत्यालोचना की है, और इस विचारधारा के सम्बन्ध में विशाल साहित्य हो गया है।

कार्लमार्क्स के मुख्य सिद्धान्त—कार्लमार्क्स ने खास तौर से तीन सिद्धान्त उपस्थित किये :—

१—मार्क्स ने समाज के इतिहास की, भौतिकवाद के आधार पर, व्याख्या की है। उसने बतलाया कि समाज में जो विविध परिवर्तन होते हैं, जितने मत, सम्प्रदाय, आन्दोलन वा लड़ाई-झगड़े आदि होते हैं, सब की तह में धन

का सवाल होता है। लोगों की सभ्यता, रहनसहन, विचारधारा आदि आर्थिक परिस्थिति से निश्चित और नियन्त्रित होती हैं। मनुष्य के विकास का इतिहास समाज के आर्थिक विकास की कहानी है।

२—मार्क्स का कथन है कि समाज की शुरू की हालत को छोड़कर उसकी हरेक आर्थिक व्यवस्था में दो वर्ग या श्रेणियाँ मुख्य रही हैं। गुलामी के युग में मालिक और गुलाम रहे। जागीरदारी और जमींदारी में जागीरदार या जमींदार और किसान होते हैं। और, अब पूँजीवादी प्रथा में पूँजीपति और मजदूर हैं। इन दोनों श्रेणियों के हित एक दूसरे के विरुद्ध होते हैं; एक का लाभ दूसरे की हानि, एक की शानशौकत और विलासिता दूसरे का शोषण हैं। पूँजीपतियों ने आर्थिक जगत के अलावा राजनैतिक क्षेत्र में भी प्रधानता पा ली है। विधान-सभाओं के चुनावों और मन्त्रिमंडलों के संगठन में अकसर वे ही उम्मेदवार सफल होते हैं, जिन्हें ये चाहते हैं। पूँजीपतियों और मजदूरों का संघर्ष तभी समाप्त होगा, जब निजी सम्पत्ति हटा दी जायगी। इसलिए सब सम्पत्ति सरकारी समझी जानी चाहिए।

३—हरेक चीज को पैदा करने में कुछ श्रम लगता है। जब से चीजें मशीनों द्वारा बनायी जाने लगीं, श्रमजीवियों को वस्तुओं की बिक्री के मूल्य का थोड़ा सा ही हिस्सा मिलता है, शेष मूल्य पूँजीपति के पास रहता है, अर्थात् पूँजीपति चीजों पर बेहद मुनाफा लेता है; वह मजदूरों के श्रम से अनुचित लाभ उठाता है। चीजों की कीमत खासकर (शारीरिक) श्रम के अनुसार लगायी जानी चाहिए।

मार्क्स के समाजवाद के ये तीन मुख्य सिद्धान्त हैं। इसके अलावा यह धर्म या मजहब को एक व्यर्थ का ढोंग समझता है। उसके अनुसार धर्म, जो भाग्यवाद और संतोषवाद आदि का प्रचार करता है, सामाजिक उन्नति में बाधक है। महन्त पुजारी आदि मुफ्तखोर हैं; जहाँ तक बन आए, ऐसे आदमी समाज में न रहें, इनकी शक्ति या मान-प्रतिष्ठा बिलकुल ही कम हो।

उत्पत्ति के साधनों का राष्ट्रीकरण—समाजवादी विचारधारा के अनुसार उत्पत्ति के साधनों पर व्यक्तियों का निजी अधिकार न होकर राष्ट्र का

अधिकार होना चाहिए अर्थात् उनका राष्ट्रीकरण होना आवश्यक है। सब जमीन, बैङ्क, रेल, जहाज, कल कारखानों आदि की मालिक सरकार हो। उसके द्वारा नियत किये हुए योग्य कार्यकर्ता प्रत्येक विभाग का काम संभाले। जमीन और बैङ्कों के राष्ट्रीकरण का अच्छा उपाय यह समझा जाता है कि सरकार पूँजीपतियों पर खूब कर लगाकर धन इकट्ठा करे और उस धन से जमीन, और बैङ्क के हिस्से खरीद ले और मालिकों को जितना मुमकिन हो, हरजाना दे दे। इसी तरह रेल, खानों और कल-कारखानों का भी राष्ट्रीकरण किया जाए।

समाजवाद की दृष्टि से समाज की अशान्ति और विषमता का मुख्य कारण उत्पादन के साधनों पर व्यक्तियों का निजी स्वामित्व है। जब इन साधनों पर सारे देश का सामूहिक स्वामित्व स्थापित हो जाएगा तो अशान्ति और विषमता का लोप हो जाएगा, और वर्ग-संघर्ष का अन्त हो जाएगा; क्योंकि सब लोग समान रूप से जीवन व्यतीत करेंगे, न कोई शोषक होगा और न कोई शोषित।

वितरण सम्बन्धी विचार—वितरण के बारे में पहले समाजवादियों में मुख्यतया दो मत थे—(१) उत्पादन की वस्तुओं में प्रत्येक मजदूर को उसके श्रम का पुरस्कार उसके काम की मात्रा तथा गुण के अनुसार मिले। (२) उत्पन्न सम्पत्ति में से प्रत्येक श्रमजीवी को उसकी आवश्यकता के अनुसार सम्पत्ति मिलती रहे। आजकल दूसरा मत प्रायः उन लोगों का माना जाता है, जिन्हें समाजवादियों से भिन्न, साम्यवादी कहा जाता है। इस प्रकार समाजवाद के अनुसार मजदूरों को उनके काम के अनुसार प्राप्ति होनी चाहिए।

उद्देश्य-सिद्धि के मार्ग: दो मत—समाजवाद का उद्देश्य पूरा करने के लिए किस प्रकार के उपाय काम में लाये जाएँ, इस विषय में समाजवादियों में मतभेद रहा। दो विचारधाराएँ मुख्य थीं। एक दल का कथन था कि समाज विकासशील है, क्रमिक विकास के द्वारा ही हम अपने लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं। यह दल वैधानिक और पार्लिमेंटरी आन्दोलन के द्वारा ही

अपना उद्देश्य पूरा करने के पक्ष में था। उसका कथन था कि जनता में निरन्तर प्रचार और आन्दोलन करके समाजवादी सदस्य विधान-सभाओं में अपना बहुमत स्थापित कर लें और फिर अपनी योजना को अमल में लाने का प्रयत्न करें। दूसरे दल को उद्देश्य-सिद्धि से मतलब था, उसका मार्ग चाहे जो हो—क्रान्ति हो या वैध पद्धति, हिंसा हो या अहिंसा। इस दल को प्रायः समाज के क्रमिक विकास में विश्वास कम ही था। इसका कथन था कि समाजवाद वैधानिक मार्ग से स्थापित नहीं किया जा सकता; क्योंकि पार्लिमेंटरी और शासकीय संस्थाओं पर पूंजीपतियों ने अपना प्रभाव जमा रखा है। इस लिए मजदूर लोगों को संगठित होकर क्रान्ति करनी चाहिए; बारबार हड़ताल करके पूंजीपतियों को पंगु बनाया जा सकता है। अब इस दूसरे दल की बात प्रायः साम्यवादियों को ही मान्य है, समाजवादियों की विचारधारा वही है, जो ऊपर पहले दल की बतायी गयी है।

समाजवाद के भेद—मार्क्स ने अपने एक भाषण में कहा था कि 'सब स्थानों में एक ही प्रकार से कार्य नहीं हो सकता। प्रत्येक देश के रीति रिवाज तथा स्थापित संस्थाओं के अनुकूल ही वहाँ कार्य करना संभव है। इंगलैंड, अमरीका और हालैंड में मजदूर शान्ति से भी अपना उद्देश्य पूरा कर सकते हैं।' वास्तव में समाजवाद के बारे में जुदा-जुदा देशों में समय-समय पर, तथा एक ही समय में भी विविध विद्वानों के विचार जुदा-जुदा रहे हैं। उनमें मतभेद का एक विषय तो यह था कि समाजवाद के अनुसार राज्य की व्यवस्था बदलने के लिए कैसे उपाय काम में लाए जाएँ, उनमें क्रान्ति और हिन्सा का क्या स्थान रहे। इसका जिक्र पहले हो चुका है। मत-भेद का दूसरा विषय यह था कि समाजवादी व्यवस्था की रूपरेखा क्या हो; जो सरकार समाज और राज्य की नयी व्यवस्था का संचालन या नियंत्रण करे, उसकी सत्ता का दुरुपयोग किस प्रकार कम से कम हो। मार्क्स ने इस विषय पर स्पष्ट और व्योरेवार विचार नहीं किया, उसके मत से क्रान्ति स्वयं ही पीछे स्थापित होने वाली व्यवस्था का स्वरूप निर्धारित कर लेगी। परन्तु अन्य विचारकों ने इस विषय पर अपने-अपने ढंग से यथेष्ट प्रकाश डालना आवश्यक समझा।

अस्तु, इन दो प्रश्नों पर मतभेद होने से समाजवादी विचारधारा ने अनेक रूप ग्रहण कर लिये। इनमें से मुख्य ये हैं—

(१) राजकीय समाजवाद (स्टेट-सोशलिज्म)
(२) मजदूर-संघवाद (सिंडिकलिज्म)
(३) श्रेणी समाजवाद (गिल्ड-सोशलिज्म)
(४) अराजवाद (अनार्किज्म)
(५) साम्यवाद (कम्यूनिज्म)

आगे संक्षेप में इनका परिचय दिया जाता है। साम्यवाद को अब समाजवाद से अलग ही माना जाता है, उसके बारे में एक जुदा अध्याय में लिखा जाएगा।

राजकीय समाजवाद—इसे केवल समाजवाद या समूहवाद (कलेक्टिविज्म) भी कहा जाता है। यह समाजवादी व्यवस्था को राज्य द्वारा वैध और शान्तिमय उपायों से स्थापित करने के पक्ष में होता है। इस लिए यह जनता में प्रचार करके समाजवादी दल बनाता और उसे अधिक से अधिक बढ़ा कर चुनाव में विजयी करना चाहता है. जिससे उसकी सरकार बने, उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीकरण हो जाए, और राज्य आर्थिक व्यवस्था का संचालन मुनाफे के लिए नहीं, लोकहित के लिए करे। इसके अनुसार राष्ट्रीय या अखिल देशीय महत्व के उद्योगों का प्रबन्ध केन्द्रीय सरकार द्वारा और अन्य उद्योगों का प्रबन्ध स्थानीय सरकारों या संस्थाओं द्वारा होगा। मजदूरों को वेतन उनके कार्य के अनुसार मिलेगा, परन्तु हरेक के लिए न्यूनतम वेतन निश्चित रहेगा, जिससे उसका अच्छी तरह निर्वाह हो सके। चौदह-पन्द्रह वर्ष तक के बालक स्कूल में पढ़ने जाएँगे, और इससे अधिक आयु के सब लोगों को राज्य से काम मिलेगा, और काम न दिया जा सके तो जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक सहायता दी जाएगी। ऊपर कहा गया है कि उत्पादन के साधनों पर राष्ट्र का अधिकार होगा, उन्हें छोड़ कर अन्य वस्तुएँ—घर, कपड़े, उद्यान, बगीचे, सवारी, पुस्तकें आदि व्यक्तियों के निजी अधिकार ही में रहेगी। वेतन कार्य के अनुसार होने से लोगों की आय जुदा-जुदा होगी। कर,

विशेषतया आय-कर, वर्द्धमान अर्थात् उत्तरोत्तर बढ़ते हुए दर से लिया जाएगा—गरीबों से बहुत मामूली या बिलकुल नहीं, और अमीरों से खूब अधिक; मिसाल के तौर पर रुपये में चौदह-पन्द्रह आने तक। विरासत-कर भी लिया जाएगा। इन करों का उद्देश्य यह होगा कि जनता में सम्पत्ति का समान वितरण होने में सहायता मिले।

मजदूर संघवाद—किसी विचारधारा का जन्म और विकास होने में देश-काल का बहुत प्रभाव हुआ करता है। फ्रांस में बहुत समय तक मजदूर-सङ्गठन अवैध थे और उन्हें गुप्त उपायों द्वारा काम करना होता था। उनमें व्यक्ति-स्वातंत्र्य और व्यावसायिक स्वतंत्रता की भावना बढ़ रही थी। इसलिए वहाँ समाजवाद ने मजदूर-संघवाद का रूप लिया। यह मजदूरों के आन्दोलन और विचारों से प्रभावित है। यह सत्ता का विकेन्द्रीकरण चाहता है, उत्पादन के साधन श्रमियों के हाथ में रहते हैं, और वे ही अपना शासन चलाते हैं। मजदूर-संघवादी वैधानिक या प्रजातांत्रिक कार्यप्रणाली की उपयोगिता, व्यावहारिकता या सफलता में विश्वास नहीं करते। ये प्रत्यक्ष में उपयोगी सिद्ध होने वाले उपायों – विध्वंस या तोड़-फोड़ और हड़ताल को ही ठीक मानते हैं। विध्वंस में कई बातों का समावेश है, जैसे मशीनों को बिगाड़ देना, तैयार माल को खराब कर देना, उसमें मिलावट करना, उसे भेजते समय उस पर पता गलत कर देना आदि। हड़ताल से छोटी-मोटी या आंशिक हड़ताल का ही आशय नहीं लिया जाता। मजदूर संघवादियों का लक्ष्य हड़ताल को अधिकाधिक व्यापक और विशाल पैमाने पर करना होता है, जिससे वह क्रमशः अन्तर्राष्ट्रीय या सार्वभौम रूप धारण कर ले और राज्य को इस बात पर मजबूर कर दे कि वह सब अधिकार श्रमियों को दे दे। हड़तालों को मजदूरों के संगठन का एक प्रमुख साधन माना जाता है। सार्वभौम हड़ताल के लिए यही आवश्यक समझा जाता है कि कोयले की खानों और भाप तथा बिजली से चलने वाले बड़े बड़े उद्योगों, कारखानों, रेलों या जहाजों के मजदूर हड़ताल कर दें; इनके बन्द होने पर दूसरे उद्योग, जो इनके आश्रित होते हैं, स्वयं ही बन्द हो जाएँगे।

श्रेणी-समाजवाद—जिस प्रकार फ्रांस में समाजवाद ने मजदूर-संघवाद का रूप लिया, इङ्गलैंड में वहाँ की परिस्थिति और परम्पराओं के अनुसार श्रेणी-समाजवाद का जन्म हुआ। वहाँ मध्यकाल में जुदा-जुदा पेशों के कारीगरों की विविध श्रेणियाँ थीं। अब जो मजदूरों के आन्दोलन हुए उनमें उनका प्रभाव पड़ा। वहाँ की जनता शान्तिप्रिय रही थी, वह रक्तपात से यथा संभव बचती रह कर ही अपनी गृह-नीति में अग्रसर होती रही थी। वहाँ ऐसी ही विचारधारा का प्रचार स्वभाविक था, जिसमें संघर्ष की बात बहुत कम हो। इस प्रकार वहाँ जो श्रेणी-समाजवाद अपनाया गया, वह ऐसी अर्थ-व्यवस्था का समर्थक था, जिसमें देश के उत्पादकों और उपभोक्ताओं, दोनों की मिली-जुली जिम्मेवारी हो। इसके अनुसार अन्य सार्वजनिक विषय—शान्ति, रक्षा, परराष्ट्र-सम्बन्ध, न्याय, शिक्षा, स्वास्थ्य, कर-निर्धारण आदि—सरकार के हाथ में रहेंगे, परन्तु उसे आर्थिक या औद्योगिक विषयों का अधिकार न होगा। उत्पादन किन वस्तुओं का तथा कितने परिमाण में हो, उत्पन्न या तैयार वस्तुओं का मूल्य क्या हो—इन विषयों का सम्बन्ध उत्पादकों अथवा मजदूरों से, एवं उपभोक्ताओं से है। इसलिए इन दोनों ही श्रेणियों की समितियाँ इन प्रश्नों का निर्णय करें। इस प्रकार श्रेणी-समाजवाद राज्य की सत्ता तो बनाये रखता है, पर उसका क्षेत्र गैर-औद्योगिक विषयों तक ही सीमित रखना चाहता है। यह तीन प्रकार के उपाय काम में लाता है जो वैध और शान्तिमय हैं—

(१) यह अपना संगठन इस प्रकार करता है कि उसमें एक-एक उद्योग के केवल शरीर-श्रम करनेवाले ही नहीं वरन् सभी कार्यकर्त्ता, चाहे वे बौद्धिक कार्य ही करनेवाले ही क्यों न हों, रहेंगे। इस प्रकार के संगठन का प्रभाव साधारण मजदूर-सभाओं के संगठन से कहीं अधिक होगा, जो केवल शरीर-श्रमियों की होती है। इनकी हड़ताल से, सम्बन्धित उद्योग का काम पूरे तौर पर बन्द हो जाएगा। इसलिए ऐसे श्रेणी-संगठन की माँगों को अस्वीकार करने का सहज ही साहस नहीं किया जा सकेगा, और श्रेणी की माँग तो उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाएगी। इस प्रकार प्रत्येक उद्योग के श्रमियों की श्रेणी

उस उद्योग के कारखानों के प्रबन्ध आदि में अधिकाधिक अधिकार पाती रहेगी।

(२) मजदूर लोग दैनिक वेतन के अनुसार काम न कर, मालिकों से माल तैयार करने का सामूहिक ठेका लेंगे, अर्थात् इतने समय में माल तैयार किया जाएगा, और उसका कुल पारिश्रमिक इतना होगा। यह तय हो जाने पर मजदूर अपनी सुविधानुसार उसे तैयार करेंगे; कौन-कौन या कितने मजदूर काम करते हैं, या किस समय से किस समय तक काम करते हैं—ऐसी बातों से मालिकों को कोई मतलब नहीं।

(३) मकान आदि बनाने के जिस उद्योग में बहुत पूँजी या कीमती मशीनों की जरूरत न हो, उन्हें मजदूर स्वयं ही करेंगे, उनमें मालिकों का कुछ सम्बन्ध न रहेगा।

अराजवाद—अराजवाद से हमारा मतलब अराजकतावाद से नहीं है, जिसका अर्थ होता है अव्यवस्था, उच्छृङ्खलता, नियमहीनता आदि। अराज-वादियों का यह लक्ष्य नहीं होता कि समाज में कोई व्यवस्था न रहे, और आदमी बिलकुल मनमाना व्यवहार, उद्दंडता या उत्पात करे; इसलिए उन्हें अराजकतावादी कहना ठीक नहीं है। उनका उद्देश्य तो यही होता है कि समाज शासन के बन्धन से मुक्त रहे—शासन समाज में आर्थिक विषमता और अन्याय को कायम रखता है, और लोगों के असंतोष को बल-पूर्वक दमन करके उसे प्रकट होने से रोकता है। समय-समय पर राज्य के अत्याचारों या ज्यादतियों का अनुभव होने से उसके विरुद्ध आवाज उठती रही है। खासकर राज्य द्वारा पूँजीवाद का समर्थन होने पर राज्य-संस्था का विरोध बढ़ता गया। धीरे-धीरे ऐसी विचार-धारा उत्पन्न हुई कि राज्य एक हानिकर वस्तु है, इसकी आवश्यकता सिर्फ इस लिए है कि आदमी में लोभ, मोह, अहंकार, काम-क्रोध आदि दुर्भावनाएँ हैं, और सामाजिक जीवन के लिए इनका नियन्त्रण होना चाहिए। आदमी अभी अपूर्ण और अविकसित है। इस लिए मौजूदा हालत में राज्य को स्वीकार तो किया जा सकता है; पर

एक आवश्यक बुराई के रूप में। क्योंकि राज्य एक बुराई ही है, इसकी शक्ति कम-से-कम रहे, इसका कार्यक्षेत्र बहुत परिमित हो; शान्ति, सुव्यवस्था और जान माल की रक्षा के सिवाय उसे किसी बात से कुछ मतलब न रहे। ज्यों-ज्यों मनुष्य विकसित होता जायगा, राज्य को रखने की आवश्यकता कम होती जायगी। इस प्रकार सब से अच्छी सरकार वह है, जो शासन-कार्य सबसे कम करती है, और समाज की आदर्श अवस्था वह होगी, जिसमें राज्य की बिलकुल जरूरत न रहेगी।

अराजवादी विचारक—अराजवाद सिद्धान्त पहले-पहल खास तौर से विलियम गोडविन (१७५६-१८३४) ने उपस्थित किया था। इसका मत था कि आदमी स्वभाव से अच्छा होता है; अगर कोई बाहरी बाधा न हो तो वह पूर्णता प्राप्त कर सकता है। इसका आग्रह था कि राज्य को बीच में दखल न देना चाहिए, और समाज का उसकी इच्छानुसार संगठन होने देना ठीक है। शिक्षा के काम में भी सरकारी हस्तक्षेप न हो। दंड-प्रथा उठा कर उसका काम समझाने-बुझाने से चलाना चाहिए। स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध उनकी इच्छानुसार हो। सम्पत्ति का वितरण इस तरह हो कि हरेक आदमी को उसकी आवश्यकतानुसार मिल जाय। गोडविन चरम सीमा का व्यक्तिवादी था। इसके सिद्धान्तों को इंगलैंड में लोगों ने विशेष मान्य नहीं किया। हाँ, यूरोप के दूसरे देशों के कुछ विचारकों ने उन्हें अच्छी तरह अपनाया। प्राउधन (१८०६-१८६५) ने अराजवादी विचारों का अच्छी तरह विश्लेषण किया और इन्हें व्यावहारिक रूप दिया। उसका कथन है कि निजी सम्पत्ति न्याय में बाधक है, उससे सामाजिक असमानताएँ पैदा होती हैं और सरकार का होना आवश्यक हो जाता है। सम्पत्ति और सरकार दोनों अवैध हैं, दोनों का अन्त हो जाना चाहिए। उसका यह भी विचार है कि एक व्यक्ति का दूसरे पर शासन करना घोर अन्याय है।

इन विचारों का पीछे बकुनिन (१८१४-१८७६) ने विकास किया। इसका जन्म रूस में हुआ था। कई देशों की सरकारों द्वारा इसे बड़ी-बड़ी तकलीफें उठानी पड़ी थीं। पर इसकी क्रान्तिकारी भावना का दमन न हुआ, बल्कि

इसके मन में राज्य या सरकारों के प्रति विरोध बढ़ता गया। यह अपने अराजवाद-सिद्धान्त की अच्छी तरह व्याख्या, टीका और प्रचार नहीं कर सका था कि सन् १८७६ में इसका देहान्त हो गया। लेकिन इसके सिद्धान्त ने दूसरे विचारशीलों को अपनी ओर आकर्षित किया और उन्होंने उसकी व्याख्या करके उसका विकास किया। ऐसे बिद्वानों में प्रिंस क्रोपोटकेन का नाम खास तौर से जिक्र करने योग्य है।

अराजवाद और मार्क्सवाद—बकुनिन कार्ल-मार्क्स के समय में हुआ। वह उससे सिर्फ परिचित ही न था, बल्कि उसकी योग्यता और विद्वता को भली भाँति मानता था। तो भी दोनों के सिद्धान्तों में बहुत मत-भेद था। मार्क्स की कल्पना में समाज का जो चित्र था, उसमें राजसत्ता का भी स्थान था; हाँ, वह राजसत्ता को लोकसत्ता के आधार पर स्थापित करना चाहता था। उसका कथन था कि समाज से राजसत्ता को हटा देने से ही आर्थिक बिषमता या शोषण का अन्त नहीं हो जायगा। इसलिए राज्य को हटाने के बजाय उसका संगठन इस तरह किया जाना चाहिए कि समाज में श्रेणी-भेद न रहे, और एक श्रेणी का दूसरी के द्वारा शोषण न हो सके। इसके विरुद्ध, बकुनिन राजसत्ता का पूर्ण विरोधी था, उसे किसी भी तरह के शासन को समाज-व्यवस्था में स्थान देना सहन न था।

अराजवादियों का मत है कि राज्य का आधार बल-प्रयोग है, इसलिए समाज से शासन-प्रणाली उठा दी जाना चाहिए; बिना शासन के भी समाज में सुव्यवस्था रह सकती है। इसके लिए मौजूदा ढंग की पुलिस या कानूनों की जरूरत नहीं है; इनके द्वारा बल-प्रयोग होता है, और वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर आघात पहुँचता है।

अराजवाद और अन्य समाजवाद—समाज के आर्थिक संगठन के सम्बन्ध में अराजवादियों का मत अन्य समाजवादियों से कुछ-कुछ मिलता है। दोनों का मत है कि उत्पत्ति के साधनों पर सब लोगों का अधिकार समान रूप से होना चाहिए। लेकिन अराजवादियों का मत है कि काम करने के लिए किसी को मजबूर न किया जाय। आदमी स्वभाव से ही काम

करना पसन्द करता है। यदि संयोग से कभी कोई आदमी काम न करे तो भी उसे पैदावार या तैयार माल में से हिस्सा मिलना चाहिए। इस बात में अन्य समाजवादी सहमत नहीं हैं, क्योंकि उनके अनुसार तो हरेक आदमी को काम करना ही चाहिए, और जो आदमी काम न करे, उसे उत्पन्न पदार्थों में कुछ हिस्सा भी न मिलना चाहिए।

अराजवादी और अन्य समाजवादी दोनों निजी पूंजी का विरोध करते हैं। अन्तर यह है कि अराजवादियों का कथन है कि जिस तरह बड़ा पूंजीपति साधारण आदमियों का शोषण करता है, उसी तरह राज्य भी पूंजीपति हो जाने पर समाज के व्यक्तियों पर अत्याचार कर सकेगा। इसलिए वे राज्य का रहना ही अनुचित समझते हैं। इसके विरुद्ध, अन्य समाजवादियों का मत है कि जब राज्य ही सब पूंजी का मालिक होगा तो उस पूंजी से सभी को लाभ पहुँचेगा, एक वर्ग दूसरे का शोषण न कर सकेगा।

समाजवाद आन्दोलन से लाभ—समाजवाद आन्दोलन पूँजीवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी। इसने शरीर-श्रम की प्रतिष्ठा बढ़ायी। इसके द्वारा मजदूरों को कल-कारखानों के मालिकों के अत्याचारों से, और किसानों को जागीरदारों और जमीदारों की ज्यादतियों से बहुत राहत मिली। कई देशों में मजदूरों और किसानों ने संघ बना कर अपनी माँगें उपस्थित कीं और वे किसी न किसी रूप में स्वीकार की गयीं, अथवा कम से कम उन पर गम्भीरता और सहानुभूति-पूर्वक विचार किया जाने लगा। इस आन्दोलन से जनता में त्याग, प्रेम और संगठन की भावना बढ़ी तथा उसमें जागृति हुई। आदमियों को यह सोचने की प्रेरणा मिली कि समाज में सभी की आवश्यकताएँ पूरी करने की ओर ध्यान दिया जाय। लोगों को सामूहिक उन्नति के लिए एक दूसरे की सेवा और सहायता करनी चाहिए।

समाजवाद में बताये जानेवाले गुणों की आलोचना—यह होते हुए भी इस अर्थव्यवस्था की जो प्रशंसा की जाती है, उसमें प्रायः बहुत अत्युक्ति होती है, उसमें दूसरे पहलू का ध्यान नहीं रखा जाता। उदाहरण के लिए कुछ बातों का विचार करें—

१—यह कहा जाता है कि इस व्यवस्था से उत्पादन का राष्ट्रीकरण हो जाने से उसमें केन्द्रीकरण के दोष नहीं रहते, और उत्पादन बड़े पैमाने पर हो ही जाता है।

यह कथन ठीक नहीं है। उत्पादन का राष्ट्रीकरण हो जाने पर भी उसमें केन्द्रीकरण की बुराइयाँ रहती हैं। जैसा कि श्री धीरेन्द्र मजूमदार ने लिखा है, इससे 'जनता की मौलिक जिन्दगी केन्द्रीय व्यवस्था की मुट्ठी में रहेगी; चाहे वह मुट्ठी किसी वर्ग की हो, चाहे किसी मजबूत दल की। अगर पूँजीपतियों के हाथ में उत्पादन के साधन होंगे तो देश में होगी बनियाशाही; और अगर सरकार के हाथ में चले गये तो मुल्क पर होगी नौकरशाही। दोनों से ही अधिनायकवाद की सृष्टि होगी; सिर्फ एक पर लेबल रहेगी फासिस्टवाद की, और दूसरे पर रहेगी समष्टिवाद की। पूँजीवादी अधिनायक-तन्त्र में जहाँ जनता शोषित होगी, वहाँ समष्टिवादी अधिनायक-तन्त्र में वह निर्दलित होगी। *

२—यह कहा जाता है कि इस व्यवस्था से यंत्रों का उपयोग कुछ व्यक्तियों के लिए न रख कर, राज्य के वास्ते होने देकर उनकी बुराई से बचा जाता है, और यथेष्ट लाभ उठा लिया जाता है।

बड़े-बड़े विशाल यन्त्रों के उपयोग से उद्योगों का केन्द्रीकरण होता ही है। ग्रामोद्योगों का और उनके साथ ग्राम-जीवन का नाश होता है, शहरों की वृद्धि होती है; कृत्रिमता, विलासिता, फैशन और शौकीनी बढ़ती है; स्वास्थ्य और मानसिक शान्ति का ह्रास होता है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता और विकास में बाधा होती है।

३—यह कहा जाता है कि इस व्यवस्था से जनता की मूल आवश्यकताओं की तो पूर्ति होती ही है, उसकी उत्तरोत्तर बढ़ने वाली कृत्रिम आवश्यकताओं की पूर्ति का भी प्रयत्न होता रहता है; इस प्रकार लोगों के रहनसहन का दर्जा ऊँचा होता जाता है।

---

* 'आजादी का खतरा'

कृत्रिम तथा भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का जितना अधिक प्रयत्न किया जाता है, उतना ही वे और अधिक बढ़ती हैं; और जब तक उन्हें पूरा करने की स्थिति आती है, उससे पहले ही कुछ नयी आवश्यकताएँ उपस्थित हो जाती हैं। इस प्रकार मनुष्य का असन्तोष मिटने नहीं पाता, वह क्रमशः बढ़ता ही रहता है और जीवन को दुखमय बनाने वाला होता है। रहनसहन के दर्जे की अपेक्षा जीवन का स्तर ऊँचा होना चाहिए; और इसके लिए सेवा, सहयोग, और सादगी की जरूरत होती है।

४—उत्पादन के साधनों पर राज्य का अधिकार होने से राज्य के सब आदमियों को लाभ होता है, किसी का शोषण नहीं होता, आर्थिक विषमता नहीं रहती।

समाजवादी व्यवस्था में, जनता में आर्थिक विषमता का अभाव नहीं होता। और, यदि राज्य के लोगों का शोषण न भी हो तो बाहर के आदमियों के शोषण की सम्भावना तो बनी ही रहती है। कल कारखानों से जो माल देश की आवश्यकता से अधिक बनाया जाएगा, उसे ऐसे देशों में मुनाफे से बेचा जाएगा जो औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए हों। इस प्रकार अपने देश के आदमियों को लाभ पहुँचाने के लिए दूसरे अविकसित देशों की जनता को अपना शिकार बनाया जाता है। फिर, क्योंकि इन अविकसित देशों पर दूसरे राष्ट्रों की भी निगाह हो सकती है, इससे जुदा-जुदा समाजवादी राज्यों का आपस में तनाव और मनोमालिन्य रहता है, जो समय पाकर युद्ध ही नहीं, महायुद्ध का रूप धारण कर सकता है। समाजवादी राज्य विध्वंसकारी साम्राज्यवाद से मुक्त नहीं होते।

समाजवाद की खास कमी—समाजवाद की एक खास त्रुटि या कमी यह है कि यह मनुष्य को समाज रूपी यन्त्र के एक पुर्जे के तौर पर देखता है। यह उसके व्यक्तित्व को कुछ महत्व नहीं देता; वैयक्तिक स्वतन्त्रता को इसमें कोई स्थान नहीं है। यह इस बात को भुला देता है कि व्यक्ति समाज का अंग होते हुए भी एक स्वतन्त्र इकाई है, जिसे आत्म-विकास का यथेष्ट अवसर मिलना चाहिए। पूँजीवाद ने मनुष्य को सामाजिक उत्तरदायित्व से

उदासीन या विमुख किया तो समाजवाद ने समाज का ऐसा रूप सामने रखा जिसमें व्यक्ति सर्वथा उपेक्षित है। फिर, समाजवाद में अर्थव्यवस्था केन्द्रित होती है उससे जनतन्त्र या लोकतन्त्र का ठीक मेल नहीं बैठता, भले ही वह केन्द्रित शक्ति किसी खास व्यक्ति के हाथ में न होकर राज्य के हाथ में हो।

समाजवाद का प्रयोग—समाजवाद का प्रयोग सबसे पहले रूस में हुआ, पर अब वहाँ की व्यवस्था को साम्यवादी कहा जाता है। उसके बारे में आगे लिखा जायगा। इस समय समाजवदियों के रूप में खासकर इंगलैंड का मजदूर दल सामने आता है। वह वैधानिक आन्दोलन में विश्वास करता है। पार्लिमेंट में उसकी शक्ति बढ़ती रही है, यहाँ तक कि वह अजेय बहुमत में रह कर सत्ताधारी हो चुका है। परन्तु वह अपने समाजवादी कार्यक्रम को अमल में लाने का यथेष्ट साहस नहीं कर रहा है। उसके अनेक नेताओं तथा शासक-संस्थाओं पर पूँजीपतियों का प्रभाव बना है। अगर मजदूर दल सच्चे दिल से समाजवादी कार्यक्रम को अमल में लाए तो एक ओर तो इंगलैंड की आर्थिक विषमता दूर हो, और दूसरी और इंगलैंड का साम्राज्यवाद समाप्त हो कर उसके सब अधीन प्रदेश स्वतन्त्र हो जायँ।

समाजवाद और पूँजीवाद की मिलीजुली व्यवस्था—यद्यपि सिद्धान्त से समाजवाद और पूँजीवाद आपस में विरोधी हैं, इन दोनों का ही रूस के साम्यवाद से संघर्ष है। इसलिए ही पूँजीवादी अमरीका और समाजवादी कहा जा सकने वाला इंगलैंड दोनों अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में बहुत-कुछ साथ हैं। फिर, पूँजीवाद आर्थिक विषयों में लोकहित की दृष्टि से राज्य के हस्तक्षेप को स्वीकार करने लग गया है। अब संसार के कई देशों में न तो शुद्ध पूँजीवादी व्यवस्था है, और न शुद्ध समाजवादी ही, वरन् कुछ-कुछ दोनों की मिली-जुली व्यवस्था है। पूँजीवाद के लिए अधिक समय तक जीवित रहना सम्भव नहीं है, इसलिए वह क्रमशः समाजवाद की ओर बढ़ कर अपनी उम्र बढ़ाने

का यत्न कर रहा है। पर उसे तो समाप्त ही होना है, समाजवाद का आश्रय उसे चिरंजीवी नहीं बना सकता।

भारत में समाजवाद—आधुनिक समाजवाद का जन्म यूरोप में हुआ, पर कोई विचारधारा किसी विशेष क्षेत्र में सीमित नहीं रहती। खासकर जब भारत का पश्चिम से बहुत सम्पर्क है, समाजवाद का यहाँ आना अनिवार्य था। सर्वश्री सुभाषचन्द्र बोस, जवाहरलाल नेहरू, आचार्य जयप्रकाश-नारायण और नरेन्द्रदेव आदि इसके प्रबल समर्थक रहे हैं। भारत के स्वतन्त्र होने तक समाजवादी दल ने कॉंग्रेस के साथ मिलकर काम किया जो बहुत कुछ म० गाँधी के नेतृत्व में काम करती थी, और जिसके नेता प्रायः 'गाँधीवादी' समझे जाते थे। सन् १९४७ से भारत के स्वतन्त्र हो जाने पर समाजवादी दल ने कांग्रेस से अलग हो जाना उचित समझा। सरकार बनी कांग्रेस दल की, क्योंकि उसका देश में 'बहुमत' था। पर कांग्रेस-नेताओं ने अपने उपर 'गाँधीवादी' होने का दायित्व नहीं लिया, और न वे महात्मा जी के कई सिद्धान्तों का पालन ही कर सके। कुछ समाजवादी नेता कांग्रेस सरकार में बने रहे, और अब भी हैं। समय-समय पर यह प्रयत्न हुआ है कि कांग्रेस और समाजवादी दल मिल जाएँ; पर अभी वह सफल नहीं हुआ। इसका मुख्य कारण यही है कि यद्यपि भारत के प्रधान मंत्री (जो कांग्रेस के अध्यक्ष भी हैं) समाजवादी हैं, वे और खासकर उनका दल समाजवाद के कार्य-क्रम को उतनी तेजी से कार्य-रूप में परिणत करने को तैयार नहीं, जितनी तेजी से समाजवादी नेता चाहते हैं।

चौदह सूत्री कार्यक्रम—मार्च १९५३ में प्रजा-समाजवादी दल* के नेता श्री जयप्रकाश नारायण ने श्री नेहरू से वार्तालाप करने के प्रसंग में नीचे लिखे चौदह सूत्र वाले कार्यक्रम का प्रस्ताव किया था—

---

* समाजवादी दल में किसान-मजदूर-प्रजा दल के मिलने से उसका नाम प्रजा-समाजवादी दल हो गया।

(१) विधान में संशोधन, जिससे कि (क) समाज सुधार के मार्ग में आनेवाले अवरोध हटाये जा सकें, (ख) राजाओं और उच्च पदस्थ राजकीय अधिकारियों (सिविल सर्विस) को दिये गये विशेष वैधानिक आश्वासन समाप्त किये जा सकें, और (ग) दूसरे सदनों की प्रथा समाप्त की जा सकें।

(२)—(क) प्रशासन के समस्त विभागों में सुधार, जिसमें राजसत्ता और प्रशासनाधिकार का विकेन्द्रीकरण भी शामिल है, (ख) कानून तथा कानूनी प्रक्रिया में सुधार, (ग) भ्रष्टाचार समाप्त करने के लिए तात्कालिक प्रभावकारी यंत्र।

(३)—(क) भाषा तथा आर्थिक और प्रशासकीय सुविधाओं के आधार पर भारत के प्रशासकीय मानचित्र का पुनर्वर्गीकरण और संसद द्वारा उपर्युक्त सिद्धान्तों के आधार पर तत्सम्बन्धी विवरण तैयार करने के लिए एक कमीशन (आयेग) की नियुक्ति, (ख) क्षेत्रीय राज्यपालों, उक्त न्यायालयों तथा अन्य उच्चस्तरीय न्यायाधिकारियों और जन-सेवा आयोगों (पब्लिक सर्विस कमीशनों) की स्थापना द्वारा प्रशासकीय व्यय में कमी करना।

(४)—(क) आर्थिक असमानता और शोषण समाप्त करने के लिए भूमि का पुनर्वितरण। इस प्रकार की सभी योजनाओं में गरीब किसानों और खेतिहर मजदूरों को विशेष सुविधाएँ दी जायँ, (ख) सभी प्रकार की बेदखली फौरन बन्द की जाय, (ग) भूमि का पृथक्करण रोक कर चकबन्दी के लिए आवश्यक कानून बनाये जायँ। (घ) जमींदारी के अवशिष्ट चिन्ह भी समाप्त किये जायँ, (ङ) अनिवार्य बहुधन्धी सहकारी संस्थाओं के संघटन द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में सहकारी आर्थिक प्रणाली का विकास किया जाय, (च) राज्य की ओर से कृषकों को बहुधन्धी समितियों के माध्यम से आर्थिक सयायता दी जाय, (छ) जहाँ तक सम्भव हो राज्य की ओर से किसानों को सहकारी संस्था या पंचायत के आधार पर सहायता दी

जाय। लगान भी इसी सहकारी संस्था या पंचायत की ओर से वसूल किया जाय और उसका एक भाग ग्राम-पंचायत में ही जमा रहे।

(५) परती और बंजर भूमि जोत में लायी जाय और वहाँ भूमि-विहीन किसान बसाये जायँ। पूँजी-प्रधान खेती के लिए यह जमीन न दी जाय।

(६) बैङ्कों और बीमा-कम्पनियों का राष्ट्रीकरण किया जाय।

(७) सरकारी स्तर पर वाणिज्य व्यवसाय का क्रमिक विकास किया जाय।

(८) विभिन्न उद्योगों के चुने हुए यंत्रों का संचालन राज्य, सहकारी संस्थाओं अथवा मजदूर-परिषदों की ओर से किया जाय और यहाँ राजकीय अध्यवसायों के लिए यंत्र-विशेषज्ञों तथा मेनेजरों आदि को उचित शिक्षा दी जाय।

(६) संयुक्त मजदूर-संघ (ट्रेड यूनियन) आन्दोलन का संघटन जिससे कि ये संघ समाज की जिम्मेदारी एजन्सियों के रूप में सक्रिय हो सकें।

(१०) कोयला तथा अन्य महत्वपूर्ण खानों का राष्ट्रीकरण।

(११) राज्य द्वारा संचालित उद्योगों के प्रबन्ध में मजदूरों को भी भागीदारी मिले।

(१२) बड़े पैमाने और छोटे पैमाने के उद्योगों के कार्यक्षेत्रों का निर्धारण और छोटे उद्योगों को उचित प्रोत्साहन।

(१३) देश में आर्थिक समानता लाने के प्रारम्भिक प्रयत्न के रूप में उच्चाधिकारियों का वेतन कम किया जाय।

(१४) स्वदेशी भावनाओं को प्रोत्साहित किया जाय और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इसकी प्रधानता हो।

कार्यक्रम सम्बन्धी विचार—इस कार्यक्रम के आधार पर प्रजा-समाजवादी दल और कांग्रेस में समझौता नहीं हुआ। श्री जयप्रकाश नारायण ने कहा है कि सहयोग के लिए निर्धारित समय के अन्दर निश्चित कार्य किया जाना चाहिए, वे अगले चार साल के लिए उपर्युक्त कार्यक्रम को प्राथमिकता देते हैं। श्री नेहरू ने कहा है कि मुझे इस कार्यक्रम पर कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु

प्रधान मन्त्री अथवा कांग्रेस अध्यक्ष की हैसियत से इन महत्वपूर्ण प्रश्नों पर कोई आश्वासन नहीं दे सकता; समान समस्याओं पर हम समयानुसार विचार करते रहेंगे। इससे भारतीय समाजवादी नेताओं के विचार तथा इस विषय में सरकार और कांग्रेस के दृष्टिकोण का स्थूल परिचय मिल जाता है।

इस कार्यक्रम में समाजवादी केन्द्रीकरण की तरफ झुकाव अधिक है, और सर्वोदय के. विकेन्द्रीकरण, ग्रामोद्योगों, ग्राम-पंचायतों और ग्राम-राज की ओर कम। तथापि इसमें गाँधी जी और विनोबा की विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट है।

विशेष वक्तव्य—समाजवाद का ध्येय समाज तथा राज्य की ऐसा व्यवस्था करना है जिसमें कोई दूसरे का शोषण न करे अर्थात् हिन्सा का कोई स्थान न रहे। पर जब समाजवादी राष्ट्रों में, आदमियों की आर्थिक स्थिति में घोर विषमता रहने दी जाती है, युद्ध-सामग्री पर अपार द्रव्य खर्च किया जाता है और बड़ी-बड़ी सेनाएँ रख कर साम्राज्य की रक्षा की जाती है तो अनेक आदमियों का समाजवाद से असन्तुष्ट होकर किसी दूसरी ओर कल्याण की खोज करना स्वाभाविक ही है। कुछ लोगों का साम्यवाद की ओर आकर्षण है, और कितनों ही को आशा की किरण एकमात्र सर्वोदय में मिलता है। श्री जयप्रकाश नारायण आदि विचारकों का मत है कि सर्वोदय ही सच्चा समाजवाद है, इस विषय में आगे लिखा जाएगा।

छठा अध्याय

साम्यवाद

यह खुशी की बात है कि रूसी और चीनी सरकारों ने थोड़े ही समय में अपने गरीब लोगों की भौतिक हालतों में काफी सुधार कर डाला है, और इसके लिए अवश्य उनकी प्रशंसा की जानी चाहिए। लेकिन इस चीज के आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक पहलू को नहीं भुलाया जा सकता। यह याद रखना चाहिए कि निर्दय और कठोर हिंसा ही उसका साधन रही है।

— किशोरलाल मश्रूवाला

साम्यवाद क्या है—पहले साम्यवाद को समाजवाद का ही एक भेद माना जाता था, और यह ठीक भी है कि इसका जन्म उसी से हुआ है, यह उसका ही बदला हुआ स्वरूप है। परन्तु यह इतना बदल गया है कि अब इसे उससे अलग एक जुदा दर्शन ही समझा जाता है। यह एक प्रगतिशील वाद है, देश-काल के अनुसार इसकी रूपरेखा बदलती रही है। आधुनिक काल में इसके सिद्धान्तों का मूल विवेचन पहले कार्लमार्क्स ने किया। पीछे यह और विकसित हुआ। आरम्भ में यह कल्पना-रूप ही था। लेनिन ने इसके बीज को अंकुरित किया। स्टेलिन ने इसकी पुष्टि की और इसे बहुत प्रभावित किया। इस समय मार्क्स, लेनिन तथा स्टेलिन इसके विशाल मन्दिर की त्रिमूर्ति हैं। इसकी अनेक परिभाषाएँ की गयी हैं, और उन परिभाषाओं की तरह-तरह की आलोचनाएँ और प्रत्यालोचनाएँ भी हुई हैं, तथा होती रहती हैं। स्थूल रूप से यह कहा जा सकता है कि साम्यवाद समाज में आवश्यक परिवर्तनों द्वारा आर्थिक तथा राजनैतिक असमानता को

दूर करने और समानता स्थापित करने की पद्धति है। यह ऐसा समाज-संगठन है, जिसमें उत्पादन का स्वामित्व व्यक्तिगत मनुष्यों के हाथ में न रह कर जनता अर्थात् सरकार के हाथ में रहेगा। प्रत्येक आदमी अपनी योग्यता के अनुसार काम करेगा, और अपनी आवश्यकता के अनुसार पदार्थ पाएगा।

समानता की भावना—मनुष्य-समाज का प्रारम्भिक रूप आम तौर से साम्यवाद ही माना जाता है। उस समय लोगों में निजी स्वामित्व या मिल्कियत का विचार न था; अमीर-गरीब का, शासक-शासित का भेद-भाव न था। भारत के प्राचीन साहित्य में समानता और दान-पुण्य का खूब विवेचन है। यूनान के दार्शनिक प्लेटो (अफलातून) ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'रिपबलिक" में समानता वाले समाज का ही चित्रण किया था; उसकी बातें बहुत-कुछ कल्पना-जगत की ही रहीं, यह दूसरी बात है। पशु-पालन और खेती का आरम्भ हो जाने पर समाज में पारिवारिक और वैयक्तिक सम्पत्ति जमा करने की प्रथा चली, तब से गरीब-अमीर की बात पैदा हुई। गुलामी जारी होने पर असमानता और अधिक बढ़ी। इसके बाद सामन्तवाद आया। इसने असमानता को नये रूप में बनाये रखा। पहले मालिक और गुलाम का श्रेणी-भेद था, अब सामन्त और रैयत का हो गया। तथापि औद्योगिक विकास से पहले शोषण बहुत सीमित ही हो सकता था; कारण उस समय आदमी की उत्पादन-शक्ति परिमित थी, फिर मालिक और सामन्त को यह विचार रखना पड़ता था कि गुलाम और रैयत जिन्दा रहें, इनके मर जाने से उनका अपना नुकसान था। इसलिए उन्हें इनके पालन-पोषण के लिए आवश्यक पदार्थ देने पड़ते थे।

शोषण की वृद्धि, उसके निवारण का विचार—औद्योगिक विकास के बाद, अर्थात् पूंजीवादी व्यवस्था में, शोषण पहले की तरह सीमित न रहा। अब मशीन की सहायता से उत्पादन बहुत अधिक हो सकता है और इस लिए पूंजीपति मजदूरों से माल की पैदावार बहुत करा सकता है। साथ ही वह उन्हें निर्धारित वेतन देने के बाद उनकी बीमारी या जीने-मरने आदि के बारे में निश्चिंत रहता है। इससे मजदूरों का कष्ट और असन्तोष बढ़ता गया।

आन्दोलन हुआ। कुछ सुधार-कानून बने। पर उनसे यथेष्ट लाभ न हुआ। धीरे-धीरे पूंजीवादी व्यवस्था के प्रति विचारकों का विरोध बढ़ता गया। उनके विचारों से पीछे जाकर धीरे-धीरे समाजवाद की उत्पत्ति और विकास हुआ।

समाजवाद से पहले, सुधारकों ने समाज-व्यवस्था सम्बन्धी जिस विचार-धारा का प्रचार किया था, उसका आधार खासकर धर्म था; उसे हम 'धार्मिक साम्यवाद' कह सकते हैं। उसका रूप यह था कि धनवान या अमीर लोग गरीबों पर दया करें, और दान-धर्म आदि से उनकी सहायता करते रहें। अठारहवीं सदी के आखिरी हिस्से में यूरोप वालों का ध्यान इस ओर जाने का खास कारण यह था कि इस समय कल-कारखानों के बढ़ने से जनता में आर्थिक असमानता या विषमता से होनेवाली तकलीफें बहुत बढ़ गयी थीं।

धार्मिक साम्यवाद का सूत्रपात पहले फ्रांस और इंगलैंड में हुआ। फ्रांस का पहला मुख्य साम्यवादी विचारक सेंट साइमन था। यह सन् १७६० में पैदा हुआ था। उसने धनवानों या कारखाने वालों को मजदूरों से दया और सहानुभूति का व्यवहार करने का उपदेश दिया। उसका मत था कि समाज की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि हर एक आदमी को जीवन-निर्वाह का समान अवसर मिले; पैदावार का प्रबन्ध सरकार करे, और सरकार का संगठन ईसाई धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार हो। इस विचारधारा का आधार मनुष्यों की सहृदयता थी, आर्थिक संगठन नहीं। सेंट साइमन को कुछ सफलता मिली, पर वह स्थायी नहीं थी। हाँ, पीछे इसके शिष्यों ने धीरे-धीरे इस ओर कदम बढ़ाया।

इंगलैंड में भी 'धार्मिक साम्यवाद' का प्रचार इसी समय हुआ। यहाँ पहला मुख्य साम्यवादी राबर्ट आवन (१७७१-१८५८) था। यह कपड़े की मिल का मेनेजर और हिस्सेदार रहा था, और इसने खूब रुपया कमाया था। कारखानों और व्यापार से बहुत सम्बन्ध रखने के कारण इसे मजदूरों की हालत का प्रत्यक्ष अनुभव था; और इसने उसे सुधारने की जी-तोड़ कोशिश की, अपना बहुत रुपया खर्च करके उनके लिए स्कूल खोले, अच्छी बस्तियाँ बसायीं, मजदूरों को अच्छा तथा बढ़िया सामान करीब-करीब लागत मूल्य पर

देने की व्यवस्था की। इस तरह के लोकसेवा या परोपकार के कामों में उसे अच्छी सफलता मिली। पर उसके कार्यों का मूल, फ्रांस के सेंट साइमन की तरह, गरीबों के प्रति दया और सहानुभूति ही थी। धीरे-धीरे लोगों के ध्यान में यह बात आने लगी कि दान-धर्म प्राचीन काल में और सामन्त युग में भी चाहे जितना उपयोगी रहा हो, अब ऐसी भावुकता से मजदूरों की हालत में विशेष व्यापक और स्थायी सुधार नहीं हो सकता। इसके लिए आर्थिक विषमता के मूल कारणों पर विचार होना चाहिए और साम्यवादी समाज-व्यवस्था स्थापित की जानी चाहिए।

आधुनिक साम्यवाद का प्रादुर्भाव—आधुनिक साम्यवाद का प्रथम आचार्य कार्लमार्क्स है। पर उसका स्थूल रूप सन् १९१७ की रूसी राज्यक्रांन्ति से सामने आया। वहाँ बहुत समय से असन्तोष था। सन् १९०५ में रूस-जापान युद्ध से, जिसमें रूस की हार हुई थी, जनता को बहुत कष्ट उठाना पड़ा था। जार ने कुछ सुधार करके लोगों को सन्तुष्ट करना चाहा था, पर इसमें सफलता नहीं मिली। खासकर मजदूरों का आन्दोलन बढ़ता ही गया। क्रमशः उनमें दो दल हो गये; एक अल्पमत या मेनशेविक, दूसरा बहुमत या बोलशेविक। मेनशेविकों का विचार था कि शान्ति से राजतन्त्र को समाप्त करके वैधानिक लोकतन्त्र की स्थापना की जाय। बोल-शेविक, क्रान्ति करके राजनैतिक अधिकार प्राप्त करने के पक्ष में थे। यह दल लेनिन के नेतृत्व में जोर पकड़ता गया। सन् १९१४ में पहला यूरोपीय-महा-युद्ध आरम्भ हुआ, इसमें रूस भी शामिल हुआ। जनता का कष्ट और असन्तोष अब और भी बढ़ गया। जार के विरुद्ध जोरदार आन्दोलन हुआ। १९१७ में बोलशेविकों ने जार को उसके परिवार सहित मार डाला और १९१८ में लेनिन की अध्यक्षता में समाजवादी सोवियट गणतन्त्र यूनियन (यूनियन आफ सोशलिस्ट सोवियट रिपब्लिक) की स्थापना की।

याद रहे कि रूस के संविधान में साम्यवादी (कम्यूनिस्ट) शब्द का प्रयोग नहीं होता। वहाँ वालों का कथन है कि साम्यवाद का अस्तित्व तो वर्गहीन समाज की स्थापना पर ही होगा, उस समय तक की व्यवस्था तो समाजवादी

ही है। इस विषय पर बिशेष प्रकाश आगे डाला जाएगा। यह स्पष्ट है कि रूस सरकार अपने को साम्यवादी सरकार नहीं कहती। तथापि अन्य देशों में प्राय: उसे साम्यवादी ही कहा जाता है। साधारण समाजवादी व्यवस्था से उसकी भिन्नता सूचित करने के लिए हम भी उसके लिए साम्यवादी शब्द काम में ला रहे हैं।

साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना—रूस में इस व्यवस्था को कायम करने के लिए बहुत मारकाट और खून-खराबी हुई। जो लोग पूंजीवादी रहे थे और पूंजीवाद से चिपटा रहना चाहते थे, उन्हें बिना किसी मुरव्वत या लिहाज के घोर अपराधी घोषित करके यथेष्ट दंड दिया गया। कितने ही स्त्री और पुरुष जो बहुत प्रतिष्ठित बने हुए थे, या तो स्वयं ही रूस की भूमि से चले आये, अथवा क्रान्तिकारियों के हाथों मौत के घाट उतारे गये। हाँ, क्रान्ति के बाद रूस ने वैध पद्धति से काम लिया। व्यवस्थापक सभाएँ बनीं, कानून द्वारा आय की समानता का सिद्धान्त मान्य किया गया। जनता के लिए भोजन, वस्त्र, शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरञ्जन आदि की जिन-जिन चीजों की जरूरत होती है, उन सब को पैदा करने या बनाने के लिए विचार पूर्ण योजनाएँ तैयार की गयीं; और लाखों आदमियों को काम में लगा कर उन्हें अमल में लाया गया।

परिस्थिति के अनुसार रूसी क्रान्तिकारियों को समय-समय पर अपनी नीति बदलनी पड़ी। पहले उनका लक्ष्य था—'हर आदमी को उसकी आवश्यकताओं के अनुसार मिलना चाहिए।' पीछे उन्होंने यह सिद्धान्त अपनाया कि 'हर एक को उसके कार्य के अनुसार मिले।' अवश्य ही इस बात का ध्यान रखा गया कि राज्य के हर एक नागरिक को इतना योग्य बना दिया जाय कि उसे अपना जीवन-निर्वाह अच्छी तरह करने में बाधा न हो। रूस में आय की समानता का आदर्श पूरे तौर पर हासिल नहीं किया गया है; कुछ दशाओं में अभी वहाँ काफी असमानता देखने में आती है। परन्तु वहाँ कोई आदमी भूखा नंगा नहीं है, कोई आदमी शिक्षा और स्वास्थ्य आदि के साधनों से वंचित नहीं है; कोई आदमी अपनी इच्छा के विरुद्ध

दूसरों के स्वार्थ-साधन के लिए मेहनत मजदूरी करने को मजबूर नहीं है, हर एक पुरुष और स्त्री स्वाभिमान-पूर्वक जीवन बिताती है। हालाँकि खासकर पूँजीवादियों ने रूस की सामाजिक व्यवस्था पर तरह-तरह के आक्षेप किये हैं, और उसे बदनाम करने में कोई कसर नहीं उठा रखी, वहाँ की मौजूदा हालत की, एक ओर तो जारशाही के रूस से, दूसरी ओर इस समय के पूंजीवादी देशों से, तुलना करने पर यह स्पष्ट है कि साम्यवादी व्यवस्था में रूस ने कितनी उन्नति कर ली है। इसमें शक नहीं कि उसे अभी और भी मंजिलें तय करनी हैं। पर जितना काम किया गया है, वह उसके लिए गर्व का विषय है।

साम्यवादी कार्य-क्रम; परिवर्तन काल की व्यवस्था—साम्यवादियों के विचार से पूंजीवादी समाज में क्रान्ति हो जाने के बाद काफी समय तक संक्रमण या परिवर्तन-काल रहता है। इस समय साम्यवादी समाज स्थापित करने का काम होता है। क्रान्ति-विरोधी पूंजीपतियों या धर्माधिकारियों को ढूंढ-ढूंढ कर उन पर कड़ा नियन्त्रण रखा जाता है या उन्हें समाप्त कर दिया जाता है। इसके वास्ते पुलिस और फौज की यथेष्ट शक्ति रखनी आवश्यक है। मजदूरों को अपने ही वर्ग की सत्ता स्थापित करनी होगी। शासन-प्रबन्ध में मजदूरों की अधिनायकता या एकाधिपत्य ('डिक्टेटरशिप आफ प्रालिटेरियट') स्थापित की जाएगी, दूसरे वर्ग वालो को इसमें कोई भाग नहीं दिया जाएगा। सब लोगों को श्रम करना होगा। पुराने पूंजीपतियों को शरीर-श्रम करने के लिए मजबूर किया जाएगा। भाषण तथा लेखन-प्रकाशन आदि की स्वतन्त्रता न होगी; साम्यवाद के विरुद्ध कोई भी बात कहीं लिखी या छापी न जा सकेगी। साम्यवादी दल के अतिरिक्त दूसरा कोई दल ही न रहने पाएगा। बालकों को शिक्षा साम्यवादी विचारधारा के अनुसार दी जाएगी।

संक्रमण-काल में सारी पैदावार पर राज्य का अधिकार होगा; वह लाभ के लिए न होकर जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होगा। प्रत्येक व्यक्ति को योग्यतानुसार काम करना होगा और उसे उसके कार्य के अनुसार दिया जाएगा, पर किसी को इतना कम न दिया जाएगा कि उसके

भरण-पोषण के लिए काफी न हो। सारी पूंजी, रेल, बैंक आदि राज्य के अधिकार में रहेंगे और उन पर मजदूरों का आधिपत्य रहेगा। कानून सर्व-साधारण के हित की दृष्टि से बनाया जाएगा, पूंजीपतियों के लाभ के लिए नहीं। इसमें धर्माधिकारियों का कोई लिहाज नहीं रखा जाएगा।

संक्रमण-काल की अवधि तब तक रहेगी, जब तक समाज बिलकुल वर्ग-हीन और समान न हो जाय, जब तक लोगों की दूसरे के शोषण की इच्छा न हट जाएगी, और प्रत्येक वस्तु काफी मात्रा में उत्पन्न या तैयार न होगी। इस प्रकार रूस का समाज अभी संक्रमण अवस्था में है।

राज्यहीन समाज—जब देश में कोई साम्यवाद-विरोधी न रहेगा और सब लोग साम्यवाद व्यवस्था में विश्वास करने वाले ही होंगे तो संक्रमण-काल समाप्त हो जाएगा। प्रत्येक आवश्यक वस्तु यथेष्ट परिमाण में बनने लगेगी, फिर हरेक आदमी को उसके कार्य के अनुसार ही नहीं, उसकी आवश्यकता के अनुसार दिया जाएगा। सब में भाईचारा होगा, न कोई अमीर-गरीब होगा, न कोई शोषक या शोषित होगा। कोई संघर्ष न होगा, किसी को दूसरे की वस्तु पर अधिकार जमाने की बात न रहेगी। झगड़ा या कलह न होगा। ऐसी दशा में राज्य की आवश्यकता न रहेगी। राज्य-हीन समाज का निर्माण हो जाएगा। इस प्रकार साम्यवाद की अन्तिम स्थिति अराजवाद है।

रूसी बोलशेविकों ने राज्यहीन समाज का दूसरा ही अर्थ लगाया है। उनका कथन है कि साम्यवादी आचार्यों के मत से राज्य एक वर्गात्मक संस्था है जो दूसरे वर्गों को दबा कर रखती है। संक्रमण-काल के बाद केवल एक (मजदूर) वर्ग होगा। इसलिए दूसरे वर्गों को दबा कर रखने वाली संस्था के रूप में राज्य की जरूरत न रहेगी। पर कुछ अपराधी उस समय भी हो सकते हैं, उनका नियंत्रण करने की जरूरत होगी। फिर, सामूहिक जरूरतों की व्यवस्था करने का भी काम होगा। इस प्रकार के कार्य के लिए राज्य की आवश्यकता हमेशा बनी रहेगी। इसलिए संक्रमण-काल के बाद भी राज्य तो रहेगा, पर उसका रूप बदल जाएगा। वह दमन के सिद्धान्त पर नहीं, बल्कि जनता द्वारा उसके लाभ के ख्याल से उसकी इच्छानुसार व्यवस्था करने के लिए होगा।

विश्व-क्रान्ति का सिद्धान्त और उसका प्रयोग—साम्यवाद का लक्ष्य सम्पूर्ण संसार में वर्गहीन और राज्यहीन समाज स्थापित करना है। यही नहीं, उसके अनुसार ऐसे समाज की स्थापना किसी एक ही देश में नहीं हो सकती, और कुछेक देशों में हो जाने से भी वह स्थायी नहीं समझी जा सकती। इसलिए ऐसी व्यवस्था सारे संसार में कायम की जानी चाहिए, अन्यथा पूंजी-वादियों द्वारा उसके अस्त-व्यस्त किये जाने की आशंका है। जब तक किसी देश या कुछ देशों में पूंजीपति हैं, वे अपना सस्ता व्यापारिक माल साम्य-वादी देश में भेजकर, अथवा कच्चा या अन्य आवश्यक माल वहाँ भेजना बन्द करके उसके उद्योगों-धन्धों को संकट में डाल सकते हैं। इसके अलावा वे उसपर सैनिक तथा सशस्त्र आक्रमण भी कर सकते हैं। इसलिए साम्यवाद की यथेष्ट सफलता के वास्ते उसका किसी एक देश या कुछ देशों में परिमित रहना काफी नहीं है, उसके प्रचार के लिए विश्वव्यापी क्रान्ति होनी चाहिए।

रूस की क्रान्ति (१९१७) को प्रेरणा सन् १८४८ की उस कम्युनिष्ट घोषणा से मिली थी, जिसका नारा था 'संसार भर के मजदूरों! एक हो जाओ।' लेनिन ने यह घोषणा की थी कि संसार की पद-दलित जनता रूस के विजयी किसानों और मजदूरों के नेतृत्व में विश्वक्रान्ति की ओर बढ़ेगी। इसी उद्देश्य से तीसरे अन्तर्राष्ट्रीय कम्यूनिस्ट संघ ('थर्ड इन्टरनेशल') की स्थापना की गयी थी। इस तरह रूसी क्रान्ति के नेता अन्तर्राष्ट्रवादी थे; पर जब इस नीति को अमल में लाने का सवाल सामने आया तो वे एकमत न हो सके। पूंजीपति और साम्राज्यवादी राष्ट्रों के सामने रूस की कमजोरी का अनुभव करके, स्टेलिन रूस में ही क्रान्ति की जड़ मजबूत करने के पक्ष में रहा। और, अन्तर्राष्ट्रीयता के सिद्धान्तों का समर्थक ट्राट्स्की रूस से भाग कर विदेशों में मारे-मारे फिरा, अन्त में उसे वहाँ ही अपने प्राण गँवाने पड़े।

सन् १९२७ से १९३३ तक रूस आत्म-रक्षा में लगा रहा, उसने किसी राष्ट्र पर हमला नहीं किया, और इसके बाद भी उसने चीन और स्पेन की अग्रगामी शक्तियों को मदद दी। लेकिन वह विश्वक्रान्ति की ओर नहीं बढ़ा,

बल्कि यह कहा जा सकता है कि सन् १९४३ में तीसरे अन्तर्राष्ट्रीय कम्यूनिस्ट संघ को भंग करके, उसने विश्वक्रान्ति के विचार को तिलांजलि ही दे डाली। दूसरे महायुद्ध में भाग लेते समय उसने इस बात का आग्रह नहीं किया कि उसके साथी अपनी साम्राज्यवादी नीति छोड़ दें और हरेक देश की स्वतंत्रता के सिद्धान्त को मान्य करें।

आधुनिक साम्यवाद से लाभ और उनकी असलियत—साम्यवाद से वे सब लाभ बताये जाते हैं, जो समाजवाद से समझे जाते हैं। पिछले अध्याय में 'समाजवाद की आलोचना' शीर्षक के अन्तर्गत यह लिखा जा चुका है कि समाजवाद होने से क्या-क्या लाभ दिखायी देते हैं और उनका दूसरा पहलू क्या है। वे बातें साम्यवाद के सम्बन्ध में भी लागू होती हैं।

इसके अतिरिक्त साम्यवाद में व्यक्तिगत स्वतंत्रता या व्यक्तित्व के विकास का महत्व नहीं माना जाता। ट्राट्स्की जैसे महापुरुष को मत-स्वातंत्र्य की कैसी कीमत चुकानी पड़ी, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इस प्रकार लोकतंत्र से साम्यवाद का कितना विरोध है, यह स्पष्ट ही है।

साम्यवाद और पूंजीवाद—साम्यवाद का प्रादुर्भाव पूँजीवाद के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप में हुआ, तथापि इसकी कार्यपद्धति और साधनों सम्बन्धी दृष्टिकोण पूँजीवाद के ही ढङ्ग के हैं। पूँजीवाद और साम्यवाद में दूसरे चाहे जो मतभेद और संघर्ष हों किन्तु कुछ महत्व की बातों में दोनों के मन्तव्य एकसे ही हैं। उदाहरण के लिए, दोनों पूंजी और जमीन के केन्द्रीकृत नियंत्रण पर, और बड़े पैमाने की खेती और उद्योगों पर विश्वास करते हैं; और दोनों धन की अर्थव्यवस्था मानते हैं। दोनों यंत्रोद्योगों और सम्पत्ति (पूँजी, जमीन आदि) के पूजक हैं। उनका झगड़ा इस बात पर है कि पूँजी और यंत्रोद्योगों के ऊपर अधिकार किसका हो, और फल का बंटवारा कैसा हो। दोनों की कोशिश अपना अधिकार और हिस्सा बढ़ाने की है। *

---

* **'गांधी और साम्यवाद'; ले०—श्री किशोरलाल मश्रूवाला।**

जिस सीमा तक साम्यवाद पूँजीवादी पद्धति से चिपटा हुआ है, उस सीमा तक उसमें उसके दोष होना स्वाभाविक तथा अनिवार्य हैं। इन दोषों का विचार, पूँजीवाद के प्रसंग में पहले किया जा चुका है।

साम्यवाद और समाजवाद; इनकी समानता– साम्यवाद का जन्म समाजवाद से है, तथापि जैसा पहले कहा गया, अब इसे उससे जुदा माना जाता है। साम्यवादियों और समाजवादियों के संगठन अलग-अलग और प्रायः एक दूसरे के विरुद्ध होते हैं। साम्यवादी और समाजवादी राज्यों की आपस में पटती नहीं, वे एक दूसरे से आशंकित रहते हैं, और एक दूसरे के विरुद्ध युद्ध ठानने तक की भावना रखते हैं। आगे संक्षेप में इनकी समानता तथा इनका अन्तर बताया जायगा। पहले समानता की बात लें—

१—दोनों पूँजीवाद के विरुद्ध प्रतिक्रियाएँ हैं।

२—दोनों में उत्पादन के साधनों पर किसी व्यक्ति या संस्था का निजी अधिकार मान्य नहीं होता, उन पर सार्वजनिक अधिकार माना जाता है।

३—दोनों का लक्ष्य शोषण को हटाना और वर्गहीन समाज स्थापित करना तथा जनता को विकास के अधिक से अधिक अवसर देना है।

४ दोनों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को श्रम करना अनिवार्य है।

५—दोनों के अनुसार कोई आदमी अपने जीवन-निर्वाह या भरण-पोषण की सामग्री—भोजन, वस्त्र, मकान से, और चिकित्सा तथा शिक्षा से वंचित नहीं रहता।

यह कहा जा सकता है कि साम्यवाद समाजवाद का परिवर्द्धित रूप है, इसमें उसकी बातें हैं, और कुछ और भी हैं।

साम्यवाद और समाजवाद में अन्तर—अब इन दोनों वादों के अन्तर का विचार करें—

१ - साम्यवाद के अनुसार वर्तमान अधिकारी अपने अधिकारों को स्वेच्छा से छोड़ने वाले नहीं; उनसे बल-पूर्वक अधिकार लेने होंगे। इसलिए साम्यवाद को क्रियात्मक रूप देने तथा इसका प्रचार करने के लिए क्रान्ति

अनिवार्य है, जिससे उनका मतलब खून-खराबी और तोड़फोड़ होता है। इसके विपरीत, समाजवादी क्रमिक विकास का मार्ग ग्रहण करते हैं। अथवा, यह कह सकते हैं कि साम्यवाद साधनों के प्रयोग में हिंसा-अहिंसा के चक्कर में नहीं पड़ता, उसे हिंसा से कोई परहेज नहीं हैं, वरन् उसका उसमें यथेष्ट विश्वास है। समाजवाद प्रायः शान्ति-पूर्ण, वैध और अहिंसात्मक उपायों का ही आसरा लेता है।

२—साम्यवाद के अनुसार समय पाकर सरकार सूखे पत्तों की तरह झड़ जाएगी। समाजवादी सरकार को हमेशा बनी रहने वाली मानते हैं। कुछ साम्यवादियों का मत है कि सरकार रहेगी तो हमेशा ही, पर साम्यवादी व्यवस्था में वह दमन के सिद्धान्त पर न रह कर जनहितकारी कार्यों के लिए रहेगी।

३—साम्यवाद उत्पन्न वस्तुओं को लोगों की आवश्यकता तथा रुचि के अनुसार देता है; समाजवाद, योग्यता तथा श्रम के अनुसार।

४—साम्यवाद धर्म को अनावश्यक ('सम्पन्न वर्ग की अफीम') समझता है। समाजवाद इस विषय में तटस्थ रहता है।

५—साम्यवाद अन्तर्राष्ट्रीयता का अनुयायी है, वह संसार भर को अपने मत का बनाना चाहता है, और इसके लिए प्रयत्नशील रहता है। उसे राष्ट्रीयता में विश्वास नहीं, कुछ विशेष परिस्थितियों और सीमाओं में ही वह राष्ट्रीय कार्यक्रम अपनाता है। इसके विरुद्ध समाजवाद खासकर राष्ट्रीय विचार-धारा वाला है, यद्यपि वह समय-समय पर अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों या आयोजनों में भी भाग लेता है।

वर्तमान रूसी व्यवस्था और वास्तविक साम्यवाद—यद्यपि सर्वसाधारण में रूस की वर्तमान व्यवस्था को साम्यवाद कहा जाता है, वास्तव में ऐसा नहीं है। रूस की सरकार अपने को साम्यवादी नहीं कहती; साम्यवादियों के मतानुसार अभी वहाँ संक्रमण अवस्था है। श्री किशोरलाल मश्रूवाला के विचार से रूसी पद्धति को राष्ट्रीय पूञ्जीवाद कहना गलत नहीं है। उन्होंने लिखा है—'पूञ्जीवाद के सारे तत्व—जैसे पैदावार के साधनों की मालिकी

और नियन्त्रण, ब्याज, नफा, किराया, तनख्वाहों और भत्तों में फर्क—दोनों में मौजूद हैं। दोनों के लिए शासन चलाने वाले अधिकारियों और कर्मचारियों के बोझिल तन्त्र की जरूरत है जो स्वयं कुछ पैदा न करते हुए भी पैदा करने वालों पर नियंत्रण रखते हैं और उनसे ज्यादा तनख्वाह पाते हैं। दोनों पद्धतियाँ हिंसक साधनों द्वारा अस्तित्व में आयी हैं और उन्हीं के बल पर टिकी हुई हैं। दोनों में बहुत बड़ा जन-समूह मुट्ठी भर लोगों की दया पर जीता है।'*

सच्चा साम्यवाद क्या है, इस विषय में श्री मश्रूवाला ने आगे कहा है—"कम्यूनिज्म या साम्यवाद अर्थशास्त्र का दूसरा पारिभाषिक शब्द है। वह एक कम्यून—जिसे हम भारत में पंचायत कह सकते हैं—द्वारा समाज के शासन का द्योतक है। वह एक ऐसी व्यवस्था है, जिसमें पूञ्जीवाद का एक भी तत्व मौजूद नहीं है। उसमें न तो शासन, खेती, उद्योग, पैदावार, बंट-वारा वगैरा का केन्द्रीकरण है, और न नफा, ब्याज, किराया, और व्यापार के तत्व मौजूद हैं। उसमें शासन चलाने वाले ऐसे लोग नहीं हैं, जो खुद कोई उत्पादक श्रम नहीं करते और फिर भी उत्पादक श्रम करने वालों द्वारा बढ़िया ढङ्ग से पाले जाते हैं। वह अपना शासन खुद चलाने वाले लोगों का एक छोटा सा समाज है। उसे अस्तित्व में लाने और टिकाये रखने के लिए हिंसा की जरूरत नहीं होती, बल्कि वह एक ऐसे लोगों का कुदरती और स्वेच्छा से बनाया हुआ संघ है, जो एक दूसरे के गहरे सम्पर्क में रहते हैं।"

ऐसा (वास्तविक) साम्यवाद उस वर्त्तमान पद्धति से कितना भिन्न होगा, जिसे अब साम्यवाद का नाम दिया जा रहा है! वह तो सर्वोदय के ही रूप का हो जाएगा, जिसके बारे में आगे लिखा जाता है।

---

* 'हरिजन सेवक', ५ अप्रेल १६५२

सातवाँ अध्याय

सर्वोदय

एक के भले में सबका भला ही है। किसी एक के हित के विरुद्ध दूसरे का हित हो नहीं सकता। किसी एक जमात, कौम, वर्ग या देश के हित के विरुद्ध भी दूसरी जमात, कौम, वर्ग या देश का हित नहीं हो सकता। इन सब के हितों में परस्पर विरोध है, यह ख्याल ही गलत है। मैं अगर बुद्धिमान हूँ मेरी सेहत अगर सुधरती है, तो उससे आपका भला ही होनेवाला है। —विनोबा

नर में ही तो नारायण है; यह बात अरे क्यों भूल रहे ?
करलो पूजा उन भूखों की, मैं शंख बजाने आया हूँ—
मानव, मानव का पूज्य बने, मैं यही सँदेशा लाया हूँ।
मैं गीत सुनाने आया हूँ॥

—वृन्दावन नामदेव

सर्वोदय क्या है ?—पिछले अध्यायों में समाज-व्यवस्था सम्बन्धी प्रमुख विचारधाराओं के विषय में लिखा गया है। वास्तव में समाज-व्यवस्था वही सबसे उत्तम है जिसमें समाज के किसी खास हिस्से का ही हित न होकर सारी समाज का, सब लोगों का कल्याण हो; कोई वर्ग दूसरे का शोषण न करे; समाज में गरीब अमीर का, मालिक मजदूर का, जमींदार किसान का, शासक और शासित का भेद न हो; ईर्षा द्वेष या विषमता न हो। सब एक दूसरे की भलाई और उन्नति चाहें। इसी को संक्षेप में 'सर्वोदय' कहा जाता है। इसमें मुख्य बात यह है कि आदमी सबसे अहिंसा और प्रेम की भावना रखे, और किसी जाति, किसी धर्म या किसी प्रदेश के आदमियों की दूसरों पर प्रभुता न हो।

सर्वोदय की बात इतनी अच्छी और तर्क-संगत लगती है कि कोई समझदार व्यक्ति इसका विरोध नहीं कर सकता; सब इसका समर्थन ही करेंगे। परन्तु व्यवहार क्या है ? हम अपनी भलाई चाहते हैं, अपनों की ही भलाई चाहते हैं, पर बहुधा जिन्हें हम अपना समझते हैं उनमें सबका समावेश नहीं होता, उनका क्षेत्र बहुत ही सीमित होता है। अपने आदमियों में हम अपने परिवारवालों, अपनी जाति-बिरादरी वालों, अपने धर्म या सम्प्रदाय वालों, अपने ग्राम, नगर या प्रान्तवालों की और, बहुत हुआ तो अपने देश या राष्ट्र वालों की गणना करते हैं। पर वे ही तो 'सब' नहीं होते। इसलिए सर्वोदय की भावना रखने के लिए हमें इन सीमाओं को तोड़कर आगे बढ़ना होता है। इस प्रकार सर्वोदय का व्यवहारिक अर्थ यह है :—

१—पारिवारिक मोह का त्याग,

२—जाति-बिरादरी, वर्ण का रंग की भावना से आगे बढ़ना,

३—साम्प्रदायिक विचारों से ऊँचा उठना,

४—प्रादेशिक भावना या प्रान्तीयता का निवारण,

५—संकुचित राष्ट्रीयता का परित्याग,

६—विश्वबंधुत्व की भावना को अपनाना।

सर्वोदय की भावना बहुत पुरानी है—सर्वोदय कोई नया शब्द नहीं है। इसकी विचारधारा संसार के बहुत पुराने साहित्य में मिलती है। भारत के ऋषियों ने हजारों वर्ष पहले कहा था ' सर्वे सुखिनः सन्तु' अर्थात् सब सुखी हों, किसी को भी दुःख न हो। बहुत पुराने जमाने में उन्होंने यह घोषणा की थी कि 'यह मेरा और यह पराया है—ऐसी बात छोटे हृदयवाले सोचते हैं, उदार हृदयों के लिए तो तमाम संसार अपना ही परिवार है।' इस तरह के कथन सभी देशों के साहित्य में समय-समय पर प्रगट हुए हैं, और इस समय प्रत्येक देश में कुछ ऐसे व्यक्ति हैं, जो ऐसी बातों को अपने जीवन में असली रूप देने का भरसक प्रयत्न करते हैं।

सर्वोदय की आधुनिक विचारधारा—तथापि वर्तमान काल में सर्वोदय की जो विचारधारा और कार्यक्रम है, वह खासकर महात्मा गांधी की देन है।

पचास वर्ष हुए (सन् १९०४ में), उन्होंने अङ्गरेज लेखक रस्किन की 'अन्टु दिस लास्ट' नाम की छोटी सी, महान् पुस्तक का गुजराती में सारांश लिखा तो उसका नाम 'सर्वोदय' रखा। पीछे इसका हिन्दी तथा अन्य भाषाओं में अनुवाद हुआ। महात्मा जी की विचारधारा और कार्यप्रणाली सर्वोदय शब्द से पहचानी और सूचित की जाती है। इसमें यह खूबी है कि इससे जिस समाज-रचना का आशय लिया जाता है, वह इस शब्द से स्पष्ट हो जाती है, अर्थात् सबका उदय, अस्त किसी का भी नहीं।

रस्किन की महान पुस्तक—ऊपर रस्किन की जिस महान् पुस्तक का उल्लेख हुआ है, उसे लेखक ने 'अन्टु दिस लास्ट' ('इस आखिर वाले को भी') नाम दिया है। इसका आधार बाइबल में दी गयी यह कथा है--

एक आदमी ने कुछ मजदूरों को एक पेनी (लगभग एक आने मूल्य का सिक्का) रोजाना मजदूरी पर अपने अंगूर के बाग में काम करने को भेजा। जब दोपहर के समय वह मजदूरों के अड्डे पर गया तो कुछ और लोगों को वहीं खड़ा पाया। उसने उन्हें भी अपने बगीचे में काम पर बुला कर उचित मजदूरी देने का आश्वासन दिया। तीसरे पहर जब वह फिर वहाँ गया तो उसने फिर कुछ बेकार मजदूरों को देखा। उन्हें भी वह बगीचे में ले गया। शाम को जब वह मजदूरी के अड्डे पर पहुँचा तो उस समय भी उसे कुछ मजदूर दिखायी पड़े। उसने उन मजदूरों को भी बगीचे में काम करने भेज दिया। रात होने पर उसने मुनीम से कहा 'सब मजदूरों को बुलाकर मजदूरी दे दो। सब से पीछे आये हुए आदमी से शुरू करो।' जो लोग आखिर में आये थे, उन्हें भी एक पेनी मिली। पहले से आये हुए मजदूरों को ऐसा लगा कि उन्हें ज्यादा मजदूरी दी जाएगी, पर उन्हें भी एक-एक पेनी दी गयी। इस पर उनमें असन्तोष हुआ। उन्होंने मालिक से कहा, 'जो लोग आखिर में आये, उन्होंने सिर्फ एक घंटा काम किया। मगर हम दिन भर धूप में काम करते रहे, फिर भी हमें उन्हीं के बराबर मजदूरी दी गयी है।'

बाग के मालिक ने उनका समाधान करते हुआ कहा, 'मैंने तुम्हारे साथ कोई अन्याय नहीं किया। एक पेनी रोज पर काम करना तुम्हें स्वीकार था ही। जो उचित था तुम्हें मिल गया। अब घर जाओ। तुम्हें जितना दिया, ठीक उतना ही अन्त में आनेवाले को भी दूँगा। जो चीज मेरी है, उसका अपनी इच्छानुसार उपयोग करने के लिए मैं स्वतन्त्र हूँ। मैंने अच्छा वर्ताव किया, इसका तुम्हें दुःख क्यों हो रहा है। प्रथम व्यक्ति अन्तिम होगा, और अन्तिम व्यक्ति प्रथम होगा, क्योंकि बहुत लोगों को बुलाने पर भी उनमें से थोड़े ही लोग चुने जाएँगे।'

इस पुस्तक में चार निबन्ध हैं—सच्चाई की जड़, सम्पत्ति की धाराएँ, लौकिक न्याय-दान, और सत्य क्या है (मूल्य निर्धारण)। रस्किन ने इसकी भूमिका में कहा है कि इन निबन्धों को लिखने में मेरा पहला उद्देश्य यह है कि सम्पत्ति की व्याख्या तर्क-पूर्ण और विशुद्ध की जाए; और दूसरा यह कि विशेष नीति नियमों का पालन करते हुए धन कमाना सम्भव है, यह स्पष्ट किया जाय। मनुष्य को विश्वास होना चाहिए कि ईमानदारी एक गुण है और वह ईमानदार रहकर अपना काम कर सकेगा। समाज में ईमानदार व्यक्तियों की संख्या जिस परिमाण में रहेगी, उसी परिमाण में समाज का जीवन चेतना-पूर्ण होकर उन्नत होगा। उद्योगपति और व्यापारी ईमानदारी से कार्य करेंगे तो मजदूरों के संगठन की समस्या तत्काल हल हो जाएगी। डाक्टर, लेखक या सिपाही देश की जितनी सेवा करते हैं, उतनी ही सेवा फावड़ा-कुदाली लेकर मेहनत करने वाला मजदूर भी करता है। इस लिए सरकार का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि देश के हरेक युवक और युवती को ऐसी शिक्षा दे, जिसमें औद्योगिक शिक्षा की व्यवस्था रहे; और, वह हरेक की मदद करे।

म० गाँधी और सर्वोदय—म० गांधी ने अपनी आत्मकथा में कहा है कि 'मेरा यह विश्वास है कि जो चीज मेरे अन्तरतम में बसी हुई थी, उसका स्पष्ट प्रतिबिम्ब मैंने रस्किन के इस ग्रन्थरत्न में देखा और इस कारण उसने

मुझ पर अपना साम्राज्य जमा लिया और अपने विचारों के अनुसार मुझ से आचरण करवाया। सर्वोदय के सिद्धान्त को मैं इस प्रकार समझा हूँ—

१—सब के भले में अपना भला है।

२—वकील और नाई दोनों के काम की कीमत एकसी होनी चाहिए, क्योंकि आजीविका का हक दोनों को एकसा है।

३—सादा, मजदूर का और किसान का, जीवन ही सच्चा जीवन है।

'पहली बात तो मैं जानता था। दूसरी का मुझे आभास हुआ करता था। पर तीसरी तो मेरे विचार-क्षेत्र में आयी तक न थी। पहली बात में पिछली दोनों बातें समाविष्ट हैं, यह बात सर्वोदय से मुझे सूर्य-प्रकाश की तरह स्पष्ट दिखायी देने लगी। सुबह होते ही मैं उसके अनुसार अपने जीवन को बनाने की चिन्ता में लगा।'

म० गांधी आजीवन सर्वोदय की दृष्टि से विचार तथा कार्य करते रहे। उनके आदर्श और कार्य का प्रचार करने के लिए गांधी सेवा संघ की ओर से जो मासिक पत्रिका प्रकाशित हुई थी, उसका नाम 'सर्वोदय' ही रखा गया था।

क्या सब का उदय सम्भव है?—कुछ आदमियों की धारणा है कि मनुष्यों के हितों में परस्पर विरोध होता है। उदाहरण के तौर पर कहा जाता है कि मालिक का हित इस बात में है कि मजदूर को कम से कम वेतन दे, और यह बात मजदूर के लिए साफ तौर से अहितकर है।

ऊपर से यह कथन ठीक लगता है। परन्तु जरा गहरा विचार करें तो इसमें कुछ भी तत्व नहीं है। एक के हित से दूसरों का हित ही होगा, और एक के अहित से दूसरों का हित होना सम्भव नहीं। जब मालिक मजदूर को कम वेतन देता है, तो इससे वह अपनी नैतिक हानि और आत्मिक पतन करता है, जिसकी तुलना में उसे होने वाले आर्थिक या भौतिक लाभ का कोई महत्व नहीं; वास्तव में मालिक को वह बहुत मँहगा पड़ता है। हमें समाज को व्यापक दृष्टि से, एक शरीर के रूप में देखना चाहिए। शरीर के एक अंग को कष्ट देकर या हानि पहुँचा कर दूसरे अंग को सुख पहुँचाने की कल्पना हमारी भूल

है, मूर्खता है। सारे शरीर के हित की दृष्टि से जो कार्य किये जाएँगे, उनसे सभी अंगों को लाभ पहुँचेगा। साथ ही हम याद रखें कि मनुष्य केवल हाड़-माँस का शरीर ही नहीं है, उसका मन है और आत्मा है। मानव हित का विचार करते समय हमारी दृष्टि एकाँगी या केवल भौतिक न रह कर नैतिक तथा आत्मिक भी होनी चाहिए।

वर्ग-संघष का दृष्टिकोण दूषित है—कुछ आदमी सामाजिक प्रश्नों का का विचार करते समय समाज को जुदा-जुदा वर्गों में बंटा हुआ ही देखा करते हैं। उन्हें मनुष्य के स्वभाव में स्वार्थ-साधन और वर्ग-संघर्ष की प्रधानता रहती हुई और बढ़ती हुई मालूम होती है। पर गहरा विचार करने से स्पष्ट हो जाएगा कि वास्तव में मनुष्य में सहयोग और प्रेम की भावना ही अधिक है। यदि ऐसा न हो तो पारिवारिक, सामाजिक या राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय संगठन व्यावहारिक न रहें। समय-समय पर कुछ लड़ाई झगड़े होते रहने के बावजूद, मनुष्य समाज के ये संगठन बने हुए हैं और आदमी बड़े-बड़े संगठनों की योजना बनाता है, तो यह स्पष्ट है कि सहयोग और प्रेम ही मानव जीवन की वास्तविकता है। संघर्ष या हिन्सा तो व्यापक नियम में एक अपवाद मात्र है। इन्हें मानव जीवन का स्थायी तत्व मान लेना सरासर गलत है। मानव संगठन का इतिहास सहयोग के विकास का इतिहास है। वास्तव में वर्ग-संघर्ष की धारणा ठीक नहीं।*

अधिकतम जनता के अधिकतम हित की बात भी ठीक नहीं—वर्ग-संघर्ष के अतिरिक्त एक विचारधारा उन लोगों की है, जो उपयोगितावादी कहे जाते हैं। इनका सिद्धान्त 'अधिकतम जनता का अधिकतम हित' होता है। स्मरण रहे कि बहुधा इसके उपयोग में जनता का अर्थ देश के सब आदमी न होकर कुछ खास-खास समूह ही होता है। कहीं कुछ खास रंग के ही आदमियों को, और कहीं किसी खास जाति या धर्मवालों को ही जनता मान लिया जाता है; और इस 'जनता' के अधिकतम भाग के हित का लक्ष्य

* देखिए, लेखक की 'मानव संस्कृति'।

रखा जाता है। इस प्रकार पूरे समाज की जगह उसके एक अंग-विशेष का विचार किया जाता है, चाहे वह अंग कितना ही बड़ा हो, आखिर तो वह एक अंग ही होता है, और कुछ दशाओं में तो वह बहुत बड़ा भी नहीं होता।

अधिकतम जनता के अधिकतम हित का सिद्धान्त स्पष्ट रूप से दूषित है। महात्मा गाँधी का कथन है—'मैं ज्यादा से ज्यादा संख्या के ज्यादा से ज्यादा भले के सिद्धान्त को नहीं मानता, उसे नंगे रूप में देखें तो उसका अर्थ यह होता है कि ५१ फी सदी के मान लिये गये हितों की खातिर ४६ फी सदी के हितों का बलिदान कर दिया जाना उचित है। वह सिद्धान्त निर्दय है और इससे मानव समाज की बहुत हानि हुई है।'

सर्वोदय का आदर्श—महात्मा गाँधी ने बतलाया कि जिस आचरण से एक भी व्यक्ति का अनहित होता हो, वह किसी के भी हित की चीज नहीं हो सकता; क्योंकि सारी मानवता, मनुष्य जाति एक विशाल कुटुम्ब है। हम सब एक हैं, एक दूसरे के हैं। हम जिसे शत्रु समझते हैं, उसकी हानि या अधःपतन हमारी हानि या अधःपतन है। महात्मा जी का कथन है, 'सब का ज्यादा से ज्यादा भला करना ही एक सच्चा, गौरवयुक्त और मानवता-पूर्ण सिद्धान्त है और यह सिद्धान्त अधिकतम स्वार्थ-त्याग से ही अमल में लाया जा सकता है।' इस सिद्धान्त को मान्यता देने पर धर्मों, जातियों, वर्णों या वर्गों की विभिन्नता का विचार नहीं किया जाएगा; किसानों मजदूरों और कारीगरों को, गोरे काले, पीले सब रंगों के आदमियों को, और यूरोप, अमरीका, अफ्रीका आदि सभी भू-भागों के निवासियों को समान समझा जाएगा।

साधन-शुद्धि की आवश्यकता—इस आदर्श को प्राप्त करने के लिए हमारे साधन कैसे हों? कुछ लोगों का मत है कि 'हमें तो साध्य से मतलब है, वह उत्तम होना चाहिए, इसी का हम विचार करें, फिर वह साध्य चाहे जिस प्रकार प्राप्त हो—हिंसा से हो या अहिंसा से; चाहे वह ऐसे साधनों से प्राप्त हो, जिन्हें अनैतिक कहा जाता है, अथवा वह नैतिक साधनों से प्राप्त हो।' पर सर्वोदय को साधन-शुद्धि का पूरा आग्रह रहता है, वह इस विषय में कोई समझौता नहीं करता। महात्मा गाँधी का कथन है, 'लोग कहते हैं कि साधन

तो आखिर साधन ही है। मैं कहता हूँ, साधन ही सब कुछ है। जैसा साधन होगा, साध्य भी वैसा ही हो जायगा। साध्य और साधन के बीच कोई दीवार नहीं है। ईश्वर ने हमें साधन पर नियन्त्रण रखने की शक्ति दी है, और वह भी बहुत सीमित; साध्य पर बिलकुल नहीं। साधन का जितना अमल होगा, साध्य की प्राप्ति भी उसी अनुपात में होगी। इस सिद्धान्त में कोई अपवाद की गुंजाइश नहीं है।'

सर्वोदय के मूल आधार—सर्वोदय के मूल आधारों का वर्णन कई तरह से किया जा सकता है। मोटे हिसाब से ये आधार अहिंसा, विकेन्द्रीकरण, स्वावलम्बन और आर्थिक समानता कहे जा सकते हैं। इनमें से प्रत्येक के अन्दर कई-कई बातों का समावेश है; साथ ही इनका आपस में घनिष्ट सम्बन्ध है।

(१) **अहिंसा**—यदि हम समाज-संगठन के इतिहास पर विचार करें और यह सोचें कि किस प्रकार समाज ने क्रमशः छोटे-छोटे कबीलों या समूहों से विकसित होकर अपना वर्तमान स्वरूप प्राप्त किया है, तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि वह हिंसा से अहिंसा की ओर बढ़ता रहा है, और क्योंकि आगे उसकी आकाँक्षा विश्वव्यापी संगठन करने की है, उसे अहिंसा की ही दिशा में प्रगति करते रहना है। हमारे संगठनों का आधार प्रेम, सहानुभूति और सहयोग ही हो सकता है। संगठन की योजना में संघर्ष, लड़ाई-झगड़े, वैर-विरोध आदि बाधक ही होते हैं। हमारा आदर्श तो सब का हित या भलाई करना है। इस प्रकार अहिंसा की अनिवार्यता स्वयं सिद्ध है।

(२) **विकेन्द्रीकरण**—वर्तमान अवस्था में हमारी अर्थव्यवस्था किस प्रकार केन्द्रित है, यह पूँजीवाद के प्रकरण में बताया जा चुका है। इस समय बहुत-सा उत्पादन और वितरण केन्द्रित है, पूञ्जीवादी पद्धति में और समाजवादी तथा साम्यवादी पद्धति में भी। मशीनों द्वारा उत्पादन करने में आदमी को कोई चीज बनाने के काम का एक क्षुद्र सा भाग करना होता है, उसे पूरी चीज बनाने का गर्व और आनन्द नहीं मिलता। फिर, उपभोक्ता इन पदार्थों को दूर-दूर से मंगाते हैं, वे उत्पादकों से प्रत्यक्ष सम्पर्क या जानकारी नहीं रखते,

उन्हें पता नहीं होता कि वे पदार्थ कहाँ और कैसे बनते हैं और उनके बनाने वाले कैसा जीवन बिताते हैं। ऐसी दशा में वे उनके सुख-दुख का विचार ही क्या कर सकते हैं। सर्वोदय में यह बात नहीं होती। यह विकेन्द्रीकरण पद्धति को अपनाता है। इसमें उत्पादक और उपभोक्ता के बीच में कोई खाई नहीं होती, वे एक-दूसरे के पास रहते हैं। यही नहीं, उपभोक्ता ही उत्पादक होते हैं।

फिर, इस पद्धति में हजारों आदमी किसी एक उच्च अधिकारी के आदेशों का आँख मीच कर पालन करने वाले नहीं होते। इसमें तो आदमी अपने परिवार के सदस्यों के साथ अथवा सहकारी पद्धति से दूसरे व्यक्तियों के साथ काम करता है। सब का प्रेम-पूर्वक सहयोग होता है। किसी की दूसरों पर हुकूमत नहीं होती। इस प्रकार इससे लोक-राज्य के अनुकूल परिस्थितियाँ बनती हैं और उनका उत्तरोत्तर विकास होता है। केन्द्रित उत्पादन से यह काम नहीं हो सकता। यह तो सर्वोदय द्वारा अनुमोदित विकेन्द्रीकरण से ही सम्भव है।

(३) **ग्राम-स्वावलम्बन**—विकेन्द्रीकरण से मिलता हुआ विषय स्वावलम्बन का है। सर्वोदय हमें सबसे प्रेम और सहयोग करने को कहता है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि हम बात-बात में परावलम्बी जीवन बिताएँ। हमें खासकर भोजन वस्त्र आदि की अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं के लिए यथासम्भव दूर-दूर के आदमियों के आश्रित न रहना चाहिए। हमारे गाँवों अथवा छोटी प्रादेशिक इकाइयों का संगठन इस प्रकार हो कि वे स्वावलम्बी रहें, जिससे उनकी रक्षा हो और वे उस लूट से बच सकें जो उत्पादन और वितरण के केन्द्रीकरण में होनी अनिवार्य है। स्मरण रहे कि इस स्वावलम्बन का उपयोग दूसरों का शोषण करने में नहीं होना चाहिए। हम दूसरों से लूटा जाना पसन्द नहीं करते तो दूसरों को लूटना भी स्वीकार न करें।

म० गाँधी ने कहा था कि 'गाँवों में फिर से जान तभी आ सकती है, जब वहाँ की लूट-खसोट रुक जाए। बड़े पैमाने पर माल की पैदावार गाँवों की प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से होनेवाली लूट के लिए जिम्मेदार है, क्योंकि उसके साथ होड़ और बाजारों की समस्या जुड़ी हुई है। इस लिए हमें इस बात की सबसे ज्यादा कोशिश करनी चाहिए कि गाँव हर बात में स्वावलम्बी

और स्वयं-पूर्ण हो जाएँ; सिर्फ अपनी जरूरतें पूरी करने जितनी ही चीजें तैयार करें। ग्रामों के इस अंग की अगर अच्छी तरह रक्षा की जाय तो फिर भले ही देहाती लोग आजकल के उन यंत्रों और औजारों से भी काम ले सकते हैं, जिन्हें वे बना और खरीद सकते हैं; शर्त सिर्फ यही है कि दूसरों को लूटने में उनका उपयोग नहीं होना चाहिए।'*

यंत्रों की मर्यादा—यह स्पष्ट ही है कि महात्मा जी का यंत्र मात्र से कोई विरोध नहीं था। यंत्र रहें, पर वे मानव हित के लिए हों, समाज के किसी वर्ग का शोषण करने के लिए नहीं। वे मनुष्यों का थकान कम करने के लिए काम में लाये जायँ पर उनमें बेकारी फैलानेवाले न हों; वे मनुष्य के लिए हों, मनुष्य पर हावी न हो जायँ। महात्मा जी का कथन है—'मैं ऐसी मशीन का स्वागत करूँगा, जो झोपड़ों में रहनेवाले करोड़ों मनुष्यों के बोझ को हल्का करती है। करोड़ों सजीव मशीनों के मुकाबले, जो भारत के सात लाख गाँवों में हैं, निर्जीव मशीनों को स्थान नहीं दिया जा सकता।'

ग्रामोद्योग या हाथ से बनी चीजों का उपयोग– ऊपर ग्राम-स्वावलम्बन की बात कही गयी है। इसके लिए यह आवश्यक है कि हम यथा-सम्भव ऐसी ही चीजों का उपयोग करें, जो गाँव में हाथ से, अर्थात् बड़े बड़े यंत्रों की सहायता के बिना, पैदा की जाती या बनायी जाती हैं। खासकर भोजन-वस्त्र के पदार्थों का उपयोग करते समय तो इस बात का ध्यान रखना बहुत ही जरूरी है। इस प्रकार खेती, धान कूटने, आटा पीसने, गुड़ बनाने, तेल पेरने, आदि के लिए हमें ग्रामोद्योगों को ही अपनाना चाहिए। इसी तरह कपड़ा भी चर्खे (या तकली) से कते और करघे से बुने सूत का इस्तेमाल किया जाना चाहिए। इससे सादे जीवन की बात स्वयं पूरी हो जाती है। प्रायः हम अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाते रहते हैं। और, फिर उनकी पूर्ति के लिए दिन-रात परेशान रहते हैं। हरदम हमें अशान्ति और चिन्ता बनी रहती । इसका इलाज यही है कि कृत्रिम आवश्यकताओं पर नियंत्रण रखा जाय।

---

* 'हरिजन सेवक', २६-८-३६,

शौकीनी या विलासिता के पदार्थों के सेवन पर कड़ा प्रतिबन्ध रहे। इससे एक ओर तो हमें उनकी प्राप्ति की फिक्र से, और उसके लिए भले बुरे उपायों को काम में लाने से बचेंगे; दूसरी ओर हमें कुछ अवकाश मिल सकेगा, जिसे हम अपने सांस्कृतिक विकास में, अपने भाइयों की सेवा-सहायता करने में लगा सकेंगे।

(४) **आर्थिक समानता**—आर्थिक समानता के विषय में कुछ लोगों को बड़ा भ्रम है। वे समझते हैं कि इसका अर्थ यह है कि हर एक आदमी को—वह छोटा हो या बड़ा, रोगी हो या तन्दुरुस्त, कमजोर हो या बलवान—एक निर्धारित रकम मिला करे, चाहे वह उसके लिए काफी से बहुत ज्यादा हो, अथवा उससे उसका काम ही न चले। यह ठीक नहीं आर्थिक समानता का अर्थ यही लिया जाना चाहिए कि हरेक व्यक्ति को—स्त्री,पुरुष तथा बालक और बड़े को इतना द्रव्य मिलना चाहिए, जिससे उसकी आवश्यकता की वस्तुएँ मिल सकें। इस प्रसंग में प्रश्न यह होता है कि किसकी जरूरत कितनी है, इसका निश्चय कैसे किया जाए। जैसा कि हमने अपने 'सर्वोदय अर्थ-शास्त्र' में कहा है, वह तो स्पष्ट ही है कि मनुष्य को वास्तविक या बुनियादी आवश्यकताओं के बारे में कोई विवाद नहीं होता। एक परिवार में यदि एक आदमी की खुराक का परिमाण अधिक है या उसकी आयु या तन्दुरुस्ती की दृष्टि से उसे कुछ विशेष ऐसी वस्तुओं के सेवन की आवश्यकता है, जो अपेक्षा-कृत महंगी हैं तो इसमें कोई झगड़ा नहीं होता। पर जब कोई आदमी स्वाद के लिए तरह-तरह के पदार्थ खाता है, अथवा शौकीनी के लिए बढ़िया कपड़े पहनता है या कई-कई जोड़ी कपड़ों का संग्रह रखता है, जबकि उसके दूसरे भाई बहिनों की साधारण जरूरतें भी पूरी नहीं होतीं—कोई भूखा रहने को, कोई दिगम्बर भेष रखने को, और कोई अर्द्धनग्न रहने को वाध्य हो—तो आपस में ईर्षा होने वाली ठहरी। निदान, विषमता का मूल खासकर कृत्रिम आवश्यकताएँ और परिग्रह की भावना है। आर्थिक समानता लाने के लिए इनका नियंत्रण किया जाना चाहिए।

ट्रस्टीशिप—ऊपर के कथन से स्पष्ट है कि आर्थिक समानता को व्यवहार में लाने के लिए आदमी को अपनी जरूरत के अनुसार ही सम्पत्ति

रखनी चाहिए। यों किसी चीज को जरूरत से ज्यादा रखना भी बुरा नहीं, बशर्ते कि दूसरों को उसके अभाव से कष्ट या असुविधा न भोगनी पड़ रही हो, और उस चीज को रखने वाला उसका उपयोग सार्वजनिक हित की दृष्टि से, एक ट्रस्टी को हैसियत से, करे। म० गाँधी ने इस सम्बन्ध में कहा था—

'आज के धनवानों को वर्ग-संघर्ष के, और स्वेच्छा से धन के ट्रस्टी बन जाने के, दो रास्तों में से एक को चुन लेना होगा। उन्हें अपनी मिल्कियत की रक्षा का हक होगा। उन्हें यह भी हक होगा कि अपने स्वार्थ के लिए नहीं, बल्कि मुल्क के भले के लिए, दूसरों का शोषण न करके वे धन को बढ़ाने में अपनी बुद्धि का उपयोग करें। उनकी सेवा और उसके द्वारा होने वाले समाज के कल्याण को ध्यान में रख कर उन्हें निश्चित कमीशन ही राज्य देगा। उनके बच्चे अगर योग्य हुए तो वे भी उस जायदाद के रक्षक बन सकेंगे—धनवानों का ठीक व्यवहार न हो तो वे न्यायालय द्वारा अपने अमानतदार के पद से हटा दिये जायँगे। इसके विपरीत, अगर वे अपना कर्त्तव्य विवेक-पूर्वक और ईमानदारी से पालन करेंगे तो उन्हें अपनी धरोहर-सम्पत्ति से होनेवाली शुद्ध आय या मुनाफे में से पाँच-छः प्रतिशत भाग को पुरस्कार के रूप में पाने का अधिकारी बनाया जा सकता है; शेष मुनाफा सार्वजनिक हित में लग जायगा।'

ट्रस्टीशिप की पद्धति में आर्थिक समानता को अहिन्सक रीति से लाने की भावना है। और यह याद रखने की बात है कि अहिन्सक पद्धति ही इसके लिए यथेष्ट हितकर होगी। मनुष्य में दया का भाव चिर-काल से है। इसका क्रमशः विकास होता आया है। अब हमें सोचना चाहिए कि दया समता का विकास करने वाली हो। जब तक दया करने वाले अपने आप को ऊँचा मानते हैं, उनकी दया अधूरी है। वह सार्थक तभी होगी, जब जिन पर दया की जाती है उन्हें अपने बराबर का माना जाएगा।

अपरिग्रह—सर्वोदय का जीवन के प्रति विशेष दृष्टिकोण है। मन में ऐसी भावना जागृत करनी चाहिए कि किसी पदार्थ के प्रति आसक्ति या अनुराग न हो, उसको संग्रह करके रखने की लालसा न हो। उससे उतना ही सम्बन्ध

रहे जितना शरीर-यात्रा के लिए आवश्यक है। बाकी तो वह भगवान का या जनता-जनार्दन का है। उसका परिग्रह न किया जाए, यदि हम अपने पास रखें तो उसके ट्रस्टी बन कर रहें। ट्रस्टी बनने में हमारी दृष्टि अपनी प्रतिष्ठा या गौरव बढ़ाने की नहीं, यह तो कर्तव्य-रूप है; इससे हम पर एक उत्तरदायित्व आता है। जैसे हम अपने शरीर का उपयोग लोकसेवा में मानें, उसी प्रकार अन्य पदार्थों का भी उपयोग लोकहित के लिए ही करें। इस प्रकार हम पूर्ण अपरिग्रह के सिद्धान्त पर पहुँचते हैं, और सादगी और सेवा के जीवन के निकट आते हैं।

राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति सर्वोदय-दृष्टिकोण— व्यक्तिगत तथा सामाजिक विषयों की तरह राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के लिए भी सर्वोदय सत्य और अहिंसा के ही उपयोग का आदेश करता है। प्राय: राजनीति को 'दुष्टों का खेल' समझा जाता है। इसमें छल-कपट, झूठ जबरदस्ती सब जायज मानी जाती है। राजनीतिज्ञों का मुख्य सिद्धान्त 'कंटकेनैव कंटकम्' रहा है। सर्वोदय में यह बात नहीं। म० गाँधी ने स्पष्ट घोषणा की कि 'मेरे नजदीक धर्म-विहीन राजनीति कोई चीज नहीं है। नीति शून्य राजनीति सर्वथा त्याज्य है।' उनके नेतृत्व में भारत का स्वाधीनता-आन्दोलन अधिकांश में अहिंसक ही रहा, सर्वोदय की नीति का पालन किया गया। इंगलैंड का अहित नहीं सोचा गया, उसके संकटों से लाभ नहीं उठाया गया। उसका व्यवहार जैसा भी रहा, भारत अपनी न्याय-नीति पर दृढ़ रहा। इससे दोनों ही देशों का हित हुआ। भारतीय जनता में वह विकार पैदा नहीं हुआ, जो हिंसक आन्दोलनों में होजाना अनिवार्य है। इंगलैंड में भी भारत के प्रति कटुता नहीं बढ़ी। वह भारत की मित्रता के लिए लालायित रहता है। अस्तु, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को हल करने के लिए भी सर्वोदय सत्य और अहिंसा की ही नीति अपनाता है। वह शत्रु का बुरा न चाह कर उसके भी उद्धार की बात करता है।

आज की दयनीय दशा, हृदय और बुद्धि में विरोध—इस जमाने के अधिकांश राजनीतिज्ञों को सर्वोदय की उक्त नीति में विश्वास नहीं होता।

पर इससे भी बढ़कर चिन्तनीय बात यह है कि जिन्हें इसमें श्रद्धा और विश्वास है, वे भी इसे कार्य-रूप में परिणत करने का साहस नहीं करते। इसका कारण यह बताया जाता है कि उन्हें सर्वसाधारण जनता से इसके समर्थन की आशा नहीं है। इस विषय पर सर्वोदय सम्मेलन के पाँचवें अधिवेशन (मार्च १९५३) में आचार्य विनोबा ने स्पष्ट और मार्मिक विचार प्रकट किये। उन्होंने कहा था—

'एक-दो माह की बात है, दिल्ली में कुछ ज्ञानी विद्वान् एकत्रित हुए थे। उन्होंने अहिंसा के बारे में चिन्तन, मनन, विमर्श आदि किया। उसमें हमारे पूज्य राजेन्द्र बाबू ने कहा था कि आज कोई देश यह हिम्मत नहीं कर रहा कि हम सेना के बगैर चलएँगे। आपने इस पर दुख भी प्रकट किया कि बावजूद इसके कि हमने पूज्य गांधी जी की सिखावन प्रत्यक्ष उनके मुंह से सुनी और उनके साथ काम भी किया, हम हिन्दुस्तानी भी उतनी हिम्मत नहीं कर सके।

हमारे महान नेता पं० नेहरू भी कई वार कह चुके हैं कि दुनिया का कोई भी मसला हिंसा से हल नहीं हो सकता। इससे मालूम होता है कि उनका हिंसा पर कोई विश्वास नहीं है फिर भी सेना को सुदृढ़ बनाने की जिम्मेवारी उन्हें व हमें महसूस होती है। यह विचित्र परिस्थिति है। श्रद्धा एक ओर है और दूसरी ओर है व्यवहार। चाहते तो यही हैं कि हम सारी दुनिया को अहिंसा से, प्यार से जीतें, क्योंकि प्यार से ही सच्ची विजय प्राप्त हो सकती है।

हृदय कहता है हिंसा से कोई मसला हल नहीं होगा। एक हल होता दिखायी देगा तो दूसरे दस उससे अधिक कठिन मसले सामने खड़े होंगे। पर हमारी सम्मिश्र बुद्धि हमें कहती है कि हम सेना को हटा नहीं सकते, क्योंकि जिस जनता के हम प्रतिनिधि हैं, उसमें इतनी हिम्मत और बुद्धि नहीं है, इसलिए हम उनके प्रतिनिधि के नाते सेना को मजबूत बनाना चाहते हैं।

'हृदय कहता है, ग्रामोद्योग और छोटे-छोटे घरेलू उद्योग चलाएँ, पर दूसरी ओर बुद्धि कहती है, युद्ध यन्त्र को मजबूत बनाने के लिए यह छोटे-छोटे ग्रामोद्योग सफल नहीं हो सकते।

'आज अमरीका व रूस आपस में भयभीत हैं। पाकिस्तान और भारत में भी इसी प्रकार का परस्पर भय समाया हुआ है। इसी से हम शस्त्र-बल का आधार नहीं छोड़ना चाहते। अहिंसा पर विश्वास रखते हुए भी हम शस्त्रबल, सैन्यबल का आधार नहीं छोड़ते। यह स्थिति दाम्भिकता-पूर्ण भले ही न हो पर दयनीय अवश्य है।'

जनता का कर्त्तव्य—आगे इसका उपाय बताते हुए विनोबा ने कहा—'हम में से मन्त्री बन कर मन्त्र या तन्त्र के जरिये जो काम नहीं कर सकते, वह बाहर रह कर बिना शस्त्रबल के कर दिखाना है। हमें हिंसा अथवा दण्ड-शक्ति से भिन्न प्रबल लोकशक्ति का निर्माण करना है। हमें ऐसी परिस्थिति निर्माण करना है ताकि सरकार की दण्डशक्ति का उपयोग न किया जा सके। तभी हम अपना सच्चा कर्तव्य पालन कर सकेंगे।'

भारत में सर्वोदय; ग्यारह व्रत—जैसा पहले कहा गया है, सर्वोदय की आधुनिक विचारधारा का प्रादुर्भाव खासकर भारत में हुआ है। इसलिए इस देश के सर्वोदय कार्य का कुछ परिचय देना आवश्यक है। म० गांधी यहाँ जन्म भर अहिंसा का प्रचार और प्रयोग करते रहे। आपका विचार था कि सत्य और अहिंसा के आधार पर वर्गहीन समाज स्थापित किया जाए। आपने अपने आश्रम के कार्यकर्ताओं तथा अन्य साथियों में यह भावना भरी कि जीवन में अहिंसा और सत्य का व्यवहार करें।

म० गाँधी ने सन् १६३० में, जबकि वे यरवदा जेल में थे, ग्यारह व्रतों की व्याख्या की, उन्हें सर्वोदय के मुख्य तत्व कहा जा सकता है। वे ये हैं :—

(१) सत्य, (२) अहिन्सा, (३) ब्रह्मचर्य, (४) अस्वाद, (५) अस्तेय, (६) अपरिग्रह, (७) अभय, (८) अस्पृश्यता-निवारण, (६) शारीरिक श्रम,

(१०) सर्वधर्म समभाव और (११) स्वदेशी।* इनका एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध है और इनमें से कुछ के बारे में कुछ बातें पहले कही जा चुकी हैं। यहाँ अन्य खास बातों की ओर ध्यान दिलाया जाता है।

अहिन्सा को सर्वोदय का मूलाधार कहा गया है, पर वह सत्य से जुदा नहीं है। सत्य और अहिन्सा का अनिवार्य सम्बन्ध है। महात्मा जी का कथन है कि सत्य ही परमेश्वर है, और बिना अहिन्सा के, यहाँ तक कि बिना अहिन्सा के द्वारा, सत्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। यह दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

ब्रह्मचर्य का साधारणतया जो अर्थ लिया जाता है, उसकी अपेक्षा महात्मा जी ने उसमें-विशेष भाव माना है। उनके ब्रह्मचर्य का अर्थ 'समस्त इन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण और मनसा वाचा कर्मणा वासना का निवारण' है।

अस्वाद की ओर आदमी प्रायः बहुत कम ध्यान देते हैं, तथापि यह बहुत महत्व का है, और हाँ, कठिन भी है। इसका आशय यह है कि हमारा आदर्श जीने के लिए खाना हो, न कि खाने के लिए जीना।

अपरिग्रह का अर्थ है, अपना और अपनी सम्पत्ति का मानव सेवा के लिए समर्पण। मनुष्य को अपना सर्वस्व परमेश्वर द्वारा दी हुई धरोहर के रूप में मानना चाहिए।

अभय की आवश्यकता तो जीवन के पग-पग पर पड़ती है। जो आदमी अपने से बड़े से, अधिक धनवान से, या किसी सत्ताधारी से डरता रहता है वह सत्य का व्यवहार कैसे कर सकता है! इस प्रकार निर्भयता 'आध्यात्मिकता की प्रथम आवश्यकता है।'

अस्पृश्यता-निवारण का नागरिक या मानब जीवन में कितना महत्व है,

---

* ये सूत्र-रूप से इस प्रकार हैं—

अहिन्सा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य असंग्रह।
शरीरश्रम अस्वाद सर्वत्र भयवर्जन॥
सर्वधर्मी समानत्व स्वदेशी स्पर्शभावना।
हीं एकादश सेवावीं नम्रत्वे व्रतनिश्चयें॥

इसके बिना समाज के ठीक संचालन में कितनी बाधा होती है, इसका भारत-वासियों को अच्छी तरह अनुभव है। कई सभ्य देशों में अस्पृश्यता नहीं है, पर वर्ण-भेद है, वह भी इसी की तरह एक कलंक है। उसका निवारण होना ही चाहिए।

गीता में कहा है कि यज्ञ किये बिना खाने वाला चोरी का अन्न खाता है। महात्मा जी ने इस का अर्थ यही लिया है कि शरीर-श्रम न करने वाले को खाने का अधिकार नहीं। बाइबल कहती है 'अपनी रोटी तू अपना पसीना बहा कर कमा और खा।' इसके अनुसार चलने से समाज का ढर्रा कितना सुधर सकता है।

प्रायः आदमी धार्मिक सहिष्णुता या सहनशीलता की बात किया करते हैं। पर इससे उन धर्मों में कुछ कमी की भावना का आभास मिलता है। कोई आदमी अपने धर्म का अहंकार क्यों करे, सम्पूर्ण सत्य को कौन देख पाया है! इसलिए सहिष्णुता ही नहीं, सब धर्मों में समभाव रखने की जरूरत साफ जाहिर है।

हम लोग विश्व सम्बन्धी बड़ी-बड़ी बातें करते हैं, पर व्यवहार में स्वदेश को भी भूले रहते हैं। स्वदेशी कोई जबानी जमा-खर्च नहीं, यह क्रियात्मक है। इसमें अपने पड़ोसी की सेवा और सहायता करने की भावना है। कुछ आदमी खादी को और ग्रामोद्योग की दूसरी वस्तुओं को महंगी कहते और काम में नहीं लाते। परन्तु क्या कारीगरों की बेकारी, उनका भूखा मरना या पेट भरने के लिए निन्दनीय उपायों को काम में लाना कोई अच्छा सौदा है? सादगी के बारे में पहले कहा जा चुका है, स्वदेशी में उसकी भावना है। स्मरण रहे कि हमें अपने यहाँ की भी बीड़ी, सिग्रेट, शराब, बहुत ही महीन कपड़ा आदि चीजें खरीद कर उन्हें प्रोत्साहन न देना चाहिए।

सर्वोदय पथ के पथिकों को चाहिए कि इन ग्यारह व्रतों का दृढ़ निश्चय और नम्रता के साथ पालन करें।

सर्वोदय समाज और सेवा संघ—म० गांधी के निर्वाण के बाद मार्च १९४८ में सेवाग्राम (वर्धा) में रचनात्मक कार्यकर्ताओं का एक सम्मेलन हुआ

और उन्होंने निश्चय किया कि गांधी जी की विचारधारा को मानने वालों का एक भाईचारा कायम हो। यहीं से सर्वोदय-समाज का जन्म हुआ और उसके पथ-प्रदर्शन के लिए सर्व-सेवा-संघ का संगठन किया गया। सर्वोदय समाज का उद्देश्य रखा गया, सत्य और अहिंसा पर एक ऐसा समाज बनाने की कोशिश करना, जिसमें जात-पांत न हो, जिसमें किसी को शोषण करने का मौका न मिले, और जिसमें समूह और व्यक्ति दोनों को पूरा-पूरा (सर्वांगीण) विकास करने का अवसर मिले। जो सज्जन इस उद्देश्य और बुनियादी सिद्धांत को मानता है और उनके अनुसार काम करने की कोशिश करता है, वह सर्वोदय समाज का सेवक माना जाता है। उसे इसकी सूचना सर्वोदय-समाज, वर्धा, के मंत्री को दे देनी होती है। ऐसे समस्त सेवकों का नाम व पता समाज के रजिस्टर में लिख लिया जाता है। सबसे विशेष बात यह है कि इस समाज का रूप सलाह देने वाली संस्था का रखा गया है न कि हुकूमत करने वाली संस्था का।

सर्वोदय कार्यक्रम—सर्वोदय समाज के उद्देश्य को पूरा करने के लिए निम्नलिखित कार्यक्रम निर्धारित किया गया :—

(१) साम्प्रदायिक एकता (२) अस्पृश्यता-निवारण (३) जाति-भेद निराकरण (४) नशाबन्दी (५) खादी और दूसरे ग्रामोद्योग (६) गाँव सफाई (७) नयी तालीम (८) स्त्री के लिए पुरुषों के बराबरी के हक और समाज में स्त्री-पुरुष की बराबरी की प्रतिष्ठा (९) आरोग्य और स्वच्छता (१०) देश की भाषाओं का विकास (११) प्रांतीय संकीर्णता का निवारण (१२) हिन्दुस्तानी का राष्ट्रभाषा के तौर पर प्रचार (१३) आर्थिक समानता (१४) खेती की तरक्की (१५) मजदूर संगठन (१६) आदिम जातियों की सेवा (१७) विद्यार्थी संगठन (१८) कुष्ठ रोगियों की सेवा (१९) संकट-निवारण और दुखियों की सेवा (२०) गो-सेवा (२१) प्राकृतिक चिकित्सा और (२२) इसी तरह के दूसरे काम।

सर्वोदय प्रचार-कार्य—सर्वसाधारण में—नगर-नगर, गाँव-गाँव और मुहल्ले-मुहल्ले में—सर्वोदय भावना का प्रचार करने के लिए सर्व सेवा संघ द्वारा आगे लिखे कार्य किये जाते हैं—

(१) सर्वोदय दिन मनाना। प्रतिवर्ष अधिक से अधिक स्थानों में ३० जनवरी (म० गांधी के निर्वाण दिवस) को अपने-अपने गाँव या मुहल्ले में सुबह को घर, आँगन तथा मुहल्ले की सफाई, दोपहर को एकाध घंटा सामूहिक मौन कताई और उसके बाद सामूहिक प्रार्थना।

(२) सर्वोदय मेला। १२ फरवरी को (म० गांधी के अस्थि-विसर्जन के दिन) ऐसे स्थानों पर, जहाँ महात्मा जी की अस्थियाँ बहायी गयीं। सर्वोदय में श्रद्धा रखने के चिह्न-स्वरूप सूतांजली (अपने हाथ की कती एक सूत-गुंडी) समर्पण, सामूहिक मौन कताई और प्रार्थना। सूतांजलि से होने वाली आय का उपयोग अपने श्रम पर या श्रमदान पर चलने वाली संस्थाओं की स्थापना या मदद करने में होगा।

(३) सर्वोदय पखवारा। ३० जनवरी से १२ फरवरी तक। ऊपर का या वैसा ही कार्यक्रम, जैसे सर्वोदय साहित्य का प्रचार आदि।

(४) सर्वोदय सम्मेलन। सर्वोदय समाज के सेवकों के आपस के सम्पर्क और विचार-विनिमय के लिए आमतौर से फरवरी या मार्च में, तीन-चार दिन शिविर के रूप में।

(५) 'सर्वोदय' मासिक पत्र। इसके सम्पादक आचार्य विनोबा और दादा धर्माधिकारी हैं। इसमें सर्वोदय विचारधारा एवं प्रवृत्तियों का विवेचन रहता है। वार्षिक चन्दा आठ रुपये है। यह वर्धा से प्रकाशित होता है।

भू-दान यज्ञ—जब समाज में कुछ भी आदमी भूखे-नंगे और बेकार हों तो सर्वोदय की बात ही क्या हो सकती है! सन्त विनोबा ने अप्रेल सन् १९५१ में तैलंगाना की पैदल यात्रा में अनुभव किया कि समाज के बड़े हिस्से के पास उत्पादन के साधन न होना अन्याय है। उन्होंने अधिक भूमि वालों का हृदय-परिवर्तन कर उनसे गरीबों के लिए उपहार या दान के रूप में भूमि प्राप्त करना शुरू किया। पहले साल भर तक विनोबा जी स्वयं ही भूमि-दान-यज्ञ के प्रचारक थे। परन्तु सेवापुरी सम्मेलन (अप्रेल १९५२) के बाद भू-दान यज्ञ को एक आन्दोलन का रूप प्राप्त हो गया। जगह-जगह इस कार्य के लिए समितियाँ बन गयीं। विनोबा ने बिहार में विशेष शक्ति और समय लगाया,

जिससे यह आदर्श क्षेत्र बन जाए और इससे सारे भारत को स्फूर्ति मिले। सेवापुरी में निश्चय किया था कि आगमी दो वर्ष में २५ लाख एकड़ भूमि प्राप्त कर ली जाए। अब ३१ मई ५४ तक ३३,७१,०७५ एकड़ भूमि प्राप्त हो चुकी है। इस दृष्टि से अच्छी सफलता मिलना स्पष्ट है। तथापि अलग-अलग प्रान्तों की दृष्टि से विचार करें तो सब का कोटा (निर्धारित भाग) पूरा नहीं हुआ है। प्राप्त भूमि में से लगभग इक्कीस लाख एकड़ अकेले बिहार राज्य की है। अब तक देश भर में प्राप्त दान-पत्रों की संख्या २,६६,०५४ है। प्राप्त भूमि में से ५७,४२८ एकड़ भूमि वितरण की जा चुकी है। यह १६,१३४ परिवारों को मिली है। अब भूमि वितरण का कार्य तेजी से किया जा रहा है। देश भर में पाँच करोड़ भूमि प्राप्त करनी है, जिससे प्रत्येक किसान परिवार को छः-सात एकड़ मिल सके; यह लक्ष्य सन् १९५७ तक प्राप्त करना है। इसके साथ-साथ साधन-दान या कूप-दान का भी कार्य करते रहना है। लगभग एक हजार आदमी इस कार्य के लिए जीवन-दान की घोषणा कर चुके हैं; जीवन दानियों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ रही है।

भूदान-यज्ञ की यह पद्धति अहिंसात्मक क्रान्ति का मार्ग प्रशस्त करती है। इसके पीछे विकेन्द्रीकरण और स्वावलम्बन की कल्पना है। सर्व-सेवा-संघ ने अपने प्रस्ताव में कहा है कि सर्वोदय समाज का निर्माण ग्राम-राज्य की स्थापना से ही हो सकता है। इसलिए हरेक गाँव की ऐसी तैयारी होनी चाहिए, जिससे वह कम से कम जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं के यानी अन्न, वस्त्र, मकान, आरोग्य और तालीम के बारे में स्वावलम्बी हो। उत्पादन विकेन्द्रित पद्धति से करना होगा, तभी सत्ता का विकेन्द्रीकरण होगा। संघ ने लोगों से अपील की है कि उन्हें केन्द्रित उत्पादन का—कारखानों में तैयार होने वाले खासकर खाद्य और कपड़े का—बहिष्कार करना चाहिए। [संघ ने राज्यों से मद्य निषेध लागू करने का भी अनुरोध किया है।]

सम्पत्ति-दान-यज्ञ—भू-दान के साथ सम्पत्तिदान का भी कार्यक्रम चलाया जा रहा है। जो लोग भूमि-दान करने की स्थिति में नहीं हैं, अर्थात्

जिनके पास देने के लिए भूमि नहीं है, वे अपनी सम्पत्ति का या आय का छठा भाग अपने भाइयों के लिए दे सकते हैं। सम्पत्ति के ट्रस्टी वे स्वयं रहेंगे, परंतु उसका विनियोग विनोबा (या इस कार्य के लिए नियुक्त समिति) के आदेशानुसार किया जाएगा। इसमें यह बात नहीं होगी कि चाहे-जैसे भले-बुरे मार्ग से सम्पत्ति कमाते रहें और उसका छठा हिस्सा दान में देते रहें। इसमें तो नीति-विरोधी और पापमय व्यवसाय को छोड़ देने की प्रेरणा होगी। म० गाँधी के ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त की बात पहले कही गयी है, सम्पत्ति दान-यज्ञ में उसका अंशतः परन्तु प्रत्यक्ष उदाहरण स्थापित करने की बात है।

श्रमदान—जिन लोगों के पास देने के लिए भूमि और सम्पत्ति इन चीजों में से कोई भी नहीं है, वे अपनी मेहनत से दूसरों को, सर्वसाधारण को लाभ पहुँचाएँ। इस युग में पैसे को बहुत अधिक महत्व मिलने से आर्थिक विषमता ने भयंकर रूप धारण कर रखा है। यदि लोगो में श्रम-दान की भावना का यथेष्ट प्रचार होगा, और हरेक आदमी श्रम को प्रतिष्ठा समझ कर अपने भाइयों के लिए इसका दान करने लगेगा तो समाज में ऊँच-नीच की घातक भावना का सहज ही लोप होगा और आर्थिक समानता का मार्ग प्रशस्त होगा, जो सर्वोदय का एक मूल आधार है।

श्रमदान की भावना से अनेक स्थानों पर सार्वजनिक रास्तों या गलियों और मोहल्लों की सफाई, कुएँ बनवाने और उनकी मरम्मत तथा पंचायत घर आदि का काम हुआ तथा हो रहा है। इसका यथेष्ट प्रचार होने पर हमारी अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति कितनी सुगम हो जाएगी और सामाजिक जीवन कितना सुखमय होगा, इसका सहज ही अनुमान हो सकता है। सड़क, अस्पताल, स्कूल, दफ्तर, पंचायत घर, पार्क या उद्यान, आदि के निर्माण के कितने काम इस समय धनाभाव के कारण रुके रहते हैं! सरकार टेक्स लगाती है, लोगों को कष्ट होता है, काम जल्दी नहीं होता, अच्छा भी नहीं होता। काम करने वालों को उसमें कोई रस नहीं मिलता, यंत्र की तरह एक खानेपूरी सी हो जाती है। जब सब आदमी सेवा-भाव से श्रमदान करके ऐसे निर्माण-कार्य करेंगे तो उन्हें कितना आनन्द होगा, और काम कितना सुन्दर होगा!

बुद्धिदान—इस बात का भी प्रचार हो रहा है कि पढ़े लिखे आदमी अपनी बुद्धि लोकसेवा में लगाएँ, वे जनता के कुछ कार्य बिना कुछ पारिश्रमिक लिये किया करें। यों सर्वोदय विचारधारा के अनुसार सिद्धान्त की बात तो यह है कि आदमी अपने निर्वाह के लिए शरीर-श्रम का उपयोग करे और बुद्धि केवल लोकहित साधन में लगे। अस्तु, कितने ही स्थानों में आदमी अपने अपने तौर पर जनता में साक्षरता का प्रचार निःशुल्क कर रहे हैं, अर्थात् बालकों तथा बड़ों को पढ़ना लिखना सिखा रहे हैं। कुछ जगहों में कुछ वकील गरीब आदमियों के मुकदमों की पैरवी बिना मेहनताने या फीस के करने लगे हैं। स्पष्ट है कि मानसिक कार्य करने वाले अपनी बुद्धि का उपयोग सेवा के लिए करने की भावना रख कर बौद्धिक-श्रम का दान करेंगे तो शिक्षण, स्वास्थ्य, चिकित्सा आदि की व्यवस्था का रूप ही बदल जाएगा, और अहिंसक तथा राज्य-रहित समाज का, सर्वोदय का, चित्र सामने आ जाएगा।

विशेष वक्तव्य—भूमिदान या सम्पत्तिदान आदि में 'दान' शब्द का उपयोग साधारण प्रचलित अर्थ में नहीं है, जिसके अनुसार देने वाला व्यक्ति लेने वाले पर दया या कृपा करता है। सर्वोदय विचारधारा के अनुसार हवा और पानी की तरह जमीन किसी की निजी मिल्कियत न होकर समाज की होनी चाहिए। इसी तरह सम्पत्ति पर भी किसी व्यक्ति का एकाधिकार न रहना चाहिए। सम्पत्ति समाज के हित के लिए है। समाज के हित में व्यक्ति का भी हित शामिल है, अर्थात् व्यक्ति सादगी के जीवन को ध्यान में रख कर अपने निर्वाह योग्य सम्पत्ति का उपयोग कर सकता है। व्यक्ति के पास जो भी भूमि, सम्पत्ति, बुद्धि या शरीर की शक्ति है, वह उसे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से समाज से मिली है; इसलिए उसका उपयोग समाज के हित में ही होना चाहिए। ऐसा उपयोग करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है; इसमें कोई उपकार दया या कृपा की बात नहीं है। लोगों में इस भावना का समुचित प्रचार हो तो समाज वर्गहीन बन जाए, वर्ग-संघर्ष की बात न रहे। समाज का कायाकल्प ही हो जाय, पृथ्वी पर सर्वोदय या रामराज्य का प्रत्यक्ष दर्शन हो जाय।

—:*:—

आठवाँ अध्याय

समाजवाद, साम्यवाद और सर्वोदय

आपको सोचना पड़ेगा कि आप किस विचार को मानते हो? कम्यूनिज्म को, पूँजीवाद को या अहिन्सा को? साम्यवाद, समाजवाद और गांधीवाद इनमें से क्या चुनना है। आज तो समाजवाद और गांधीवाद एक दूसरे के नजदीक आ गये हैं और कम्यूनिज्म दूर जा रहा है। इसलिए असल में चुनाव तो कम्यूनिज्म और गांधीवाद में होगा।

—विनोबा

समाजवाद तथा साम्यवाद दोनों विफलता की ओर जा रहे हैं। विजयी साम्यवाद राजकीय पूँजीवाद और तानाशाही में परिणत हो गया है, जो साम्यवाद का प्रत्यक्ष निषेध है। पश्चिमी यूरोप में समाजवाद की प्राचीन आदर्शवादिता नष्ट हो चुकी है और वह केवल संसदीय अथवा वैधानिक पन्थ हो गया है। इस प्रकार हिन्सा के तथा संसदीय कार्य पद्धति के दोनों मार्ग अवरुद्ध हो चुके हैं। गांधीवाद एक तीसरी विचारधारा है: अहिन्सात्मक सार्वजनिक प्रेरणा द्वारा क्रान्ति।

—जयप्रकाश नारायण

पिछले अध्याय में सर्वोदय विचारधारा का परिचय दिया जा चुका है। उसे अच्छी तरह समझने के लिए उसकी समाजवाद और साम्यवाद से तुलना करना और यह विचार करना उपयोगी होगा कि उसमें क्या विशेषताएँ हैं।

सर्वोदय और समाजवाद; इनमें समानता—सर्वोदय और समाजवाद में समानता का अभाव नही है। खुद महात्मा जी ने इस विषय के एक प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा था—"समानता तो काफी है। 'सबै भूमि गोपाल की' बन जाए, यह तो मैं भी मानता हूँ। सब सम्पत्ति प्रजा की है, यह भी मैं मानता हूँ।" इसके आगे महात्मा जी ने भेद की बात बतायी थी, उसका जिक्र पीछे किया जाएगा। अस्तु, समाजवाद और सर्वोदय दोनों ही जाति-भेद, वर्ण या रंग-भेद, अस्पृश्यता आदि की सामाजिक विषमता, स्त्री-पुरुष की असमानता, देश-भेद, धर्म-भेद, वा साम्प्रदायिकता आदि के भाव नष्ट करने वाले हैं।

सर्वोदय और समाजवाद में अन्तर—अब इन दोनों के प्रमुख भेदों का विचार करें—

(१) समाजवाद का सिद्धान्त है कि राज्य भर के सब आदमियों की सम्पत्ति का अधिकार राज्य को हो, किसी आदमी के पास कोई निजी सम्पत्ति न हो। हरेक आदमी की निजी सम्पत्ति राज्य द्वारा छीन ली जाए, और सम्पत्ति का राष्ट्रीकरण हो। इसके विरुद्ध, सर्वोदय में किसी भी आदमी के पास अपनी निजी सम्पत्ति हो सकती है, और वह चाहे जितनी हो सकती है। हाँ, सम्पत्ति का अधिकारी अपने आपको उसका ट्रस्टी समझे और उसका उपयोग समाज की एक अमानत या धरोहर के रूप में करे। अगर कोई धनी यह शर्त पूरी नहीं करता तो जनता को अधिकार है कि वह उसे ट्रस्टी न रहने दे; हाँ, इसमें अहिंसात्मक उपायों से ही काम लिया जाए।

(२) समाजवाद केन्द्रीय उत्पादन के पक्ष में है। उसके अनुसार राज्य के अधिकार में बहुत बड़े-बड़े खेत और विशाल कारखाने हों, और उनमें मशीनों या यंत्रों द्वारा बड़े पैमाने पर उत्पादन किया जाए। इसके विरुद्ध, सर्वोदयी मत यह है कि उत्पत्ति का केन्द्रीकरण न हो, ग्रामोद्योगों का विकास और विस्तार हो।

(३) समाजवाद का आधार भौतिकवाद है। इसके अनुसार मनुष्य की आवश्यकताएँ उत्तरोत्तर बढ़ती रहनी चाहिएँ और उन आवश्यकताओं

की पूर्ति के लिए नया-नया सामान अधिकाधिक बनता रहना चाहिए। सर्वोदय आध्यात्मिक या धार्मिक पहलू पर जोर देता है; यह आवश्यकताओं का नियंत्रण करके सादा जीवन और लोकसेवा का आदर्श रखता है।

(४) समाजवाद की दृष्टि से राज्य या सरकार हमेशा बनी रहने वाली है। इसके विरुद्ध, सर्वोदय के अनुसार सत्ता संगठित हिन्सा की द्योतक है। यह ऐसी समाज-व्यवस्था चाहता है, जिसमें अधिकार छोटी-छोटी संस्थाओं में बंटे हुए हों; वे संस्थाएँ स्वावलम्बी हों, और उन सब का आपस में सहयोग हो। इस तरह सर्वोदय का लक्ष्य राज्य-हीन समाज की स्थापना है, और इस दिशा में वह निरंतर बढ़ता रहता है।

(५) म० गाँधी का कथन है कि 'वे लोग (समाजवादी) कहते हैं कि इसका (समाजवाद का) प्रारम्भ सब एकसाथ करें। मैं कहता हूँ कि अपने व्यक्तिगत आचार में तो इसका प्रारम्भ हमें तुरन्त कर देना चाहिए। यदि इसमें श्रद्धा है तो कम-से-कम हम निजी जायदाद तो समाज को अर्पण करदें। एक भी कौड़ी जब तक कोई रखेगा, तब तक वह समाजवादी नहीं है। वे कानून से काम लेना चाहते हैं; कानून में दबाव होगा।'

(६) समाजवाद में व्यक्ति का महत्व नहीं, वैयक्तिक स्वतन्त्रता नहीं; स्वतन्त्र व्यक्तित्व के विकास की गुंजायश नहीं। इसमें वास्तविक लोकतन्त्र की स्थापना नहीं हो सकती। इसमें व्यक्ति का स्थान समाज रूपी यंत्र के एक पुर्जे के समान है। सर्वोदय में व्यक्ति के विकास के लिए मार्ग प्रशस्त रहता है, और विकास निरंतर होता रहता है।

म० गांधी का समाजवाद : सर्वोदय—म० गांधी ने अमरीकी पत्रकार श्री लुई फिशर के प्रश्न के उत्तर में कहा था—"मेरे समाजवाद का अर्थ है, 'सर्वोदय'। मैं गूंगे, बहरे और अंधे को मिटा कर उठना नहीं चाहता। उनके समाजवाद में शायद इनके लिए कोई जगह नहीं है। भौतिक उन्नति ही उनका एकमात्र मकसद है। मसलन अमरीका का मकसद है कि उसके हर शहरी के पास एक मोटर हो। मेरा यह मकसद नहीं। मैं अपने व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए आजादी चाहता हूँ। अगर मैं चाहूँ तो आसमान में

टिमटिमाते तारों तक पहुँचने की निसैनी बनाने की आजादी मुझे मिलनी चाहिए। इसका मतलब यह नहीं कि मैं ऐसी कोई बात करूँगा ही। दूसरी किस्म के समाजवाद में व्यक्तिगत आजादी नहीं है, वहाँ आपका कुछ नहीं, आपका अपना शरीर भी आपका नहीं।"*

सर्वोदय में ही सच्चा समाजवाद; श्री जयप्रकाश नारायण के विचार—पाँचवे सर्वोदय सम्मेलन के दूसरे दिन के अधिवेशन में (६ मार्च १९५३) प्रजा-समाजवादी नेता श्री जयप्रकाश नारायण ने कहा कि यदि हम समाजवाद के उद्देश्यों को लें तो हमें मालूम होगा कि समाजवाद की सारी बातें सर्वोदय में हैं। ऐसे समाज का निर्माण, जिसमें समता हो, शोषण न हो, व्यक्तिगत आजादी हो—ये उद्देश्य दोनों को ही मान्य हैं। जहाँ हिन्सा से इन उद्देश्यों की सिद्धि हुई है, वहाँ सिद्धान्त और उद्देश्य ताक पर रह गये हैं और वहाँ न तो समता आयी है और न शोषण का अन्त हुआ है और न वहाँ व्यक्तियों को स्वतन्त्रता ही मिली है। इसी प्रकार केवल पूंजीवाद के अन्त और उद्योगों के राष्ट्रीकरण से समाजवाद नहीं हो जाता। उदाहरण के लिए अपने देश में रेलों के राष्ट्रीकरण से कोई खास नतीजा नहीं निकलता। अतः हम समाजीकरण और भूमि के ग्रामीकरण पर पहुँचे हैं। हम सच्चे समाजवादी हैं तो सच्चे सर्वोदयवादी भी हैं। विनोबा जी ने ग्रामराज्य पर जोर दिया है। सच्चे समाजवादी को ग्रामराज्य चाहिए ही। इस प्रकार यहाँ दोनों धाराएँ समाजवाद और सर्वोदयवाद एक जगह मिल जाती हैं। हमें सच्चा समाजवाद बनाना है तो हम अहिन्सा से ही बना सकते हैं। हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि हम समाजवाद के बदले सर्वोदय का ही नाम लें, क्योंकि उसी में सच्चा समाजवाद है।

सर्वोदय और साम्यवाद; ऊपरी समानता—साम्यवादी सज्जनों ने रूस में और पिछले चार वर्ष चीन में लोकहित का बहुत कार्य किया। भारत में भी खासकर हैद्राबाद, त्रावणकोर-कौचीन और मद्रास आदि में अच्छा सेवा-कार्य किया। इनका दावा है कि हम एक वर्गहीन, शोषणहीन और राज्य-

---

*'हरिजन सेवक', ४-८-१९४६

ीन समाज की स्थापना करना चाहते हैं। सर्वोदय इसी लक्ष्य को धीरे-धीरे प्राप्त करने का विचार करता है, साम्यवाद इसे बहुत जल्दी प्राप्त करना चाहता है। कुछ लोग तो यह भी कह दिया करते हैं कि सर्वोदय और साम्यवाद में साध्य का तो अन्तर है ही नहीं, केवल साधन का अन्तर है। साम्यवाद जल्दी सफलता पाने के लिए हिन्सा के प्रयोग से परहेज नहीं करता। इसके विपरीत, सर्वोदय का आधार सत्य और अहिन्सा है। वह किसी भी दशा में हिन्सा से काम न लेगा। इस प्रकार कुछ लोगों ने यह सूत्र या 'फारमूला' बना लिया है, कि साम्यवाद में से हिन्सा निकाल देने पर जो शेष रहता है वह सर्वोदय ही होता है। इसी प्रकार यदि सर्वोदय में से अहिन्सा की बात छोड़ दें तो साम्यवाद बन जाता है।

साम्यवाद – हिन्सा = सर्वोदय
सर्वोदय – अहिन्सा = साम्यवाद

असल में बात इतनी सीधी नहीं है। सर्वोदय और साम्यवाद में जो समानता दिखायी देती है, वह ऊपरी ही है; जरा गहरा विचार करके देखें तो यह समानता समाप्त हो जाती है।

भेद की मुख्य बातें—सर्वोदय और साम्यवाद के मूल सिद्धान्त ही जुदा जुदा है। उनके आदर्श और उद्देश्यों में भिन्नता होने से उनके नैतिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक सिद्धान्त तथा कार्यक्रम अलग-अलग हैं। यहाँ कुछ मुख्य भेदों का विचार किया जाता है।

(१) सर्वोदय की दृष्टि यह है कि यह संसार चेतन शक्ति का बिहार है, मूल वस्तु आत्मा या सत्य है, आत्मा का शरीर से वैसा ही सम्बन्ध है, जैसा शरीर का कपड़े से। हमारे प्रत्येक कार्य में आत्मा के विकास का ध्यान रहना चाहिए। यही हमारे जीवन की कसौटी है। हमें अपनी इन्द्रियाँ वश में रखना, अपनी भौतिक जरूरतों पर नियन्त्रण रखना और सेवा-भाव से जीवन बिताना चाहिए।

साम्यवादी को आत्मा-परमात्मा जैसी दिखायी न देने वाली चीजों में विश्वास नहीं है। वह प्रत्यक्षवादी है। उसका मत है कि मनुष्य हजारों-लाखों वर्ष में,

पशु योनि से क्रमशः विकसित होकर, इस अवस्था में आया है। यह सृष्टि आरम्भ में जड़-रूप थी। जड़ प्रकृति से ही प्राणियों का जन्म हुआ। आदमी पशुओं का वंशज है; हाँ, उसमें चेतना का विकास हुआ है। उसकी आवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं, इसमें कोई दोष नहीं। वह प्रकृति पर विजय पाता जा रहा है, और उसे इस दिशा में बढ़ते रहना चाहिए।।

(२) सर्वोदय यह सोचता है कि जो चेतन शक्ति मुझमें है, वह दूसरों में भी है इसलिए मुझे हिन्सा से काम लेने का कोई अधिकार नहीं, मैं तो अपने विरोधी का हृदय-परिवर्तन करने का ही प्रयत्न कर सकता हूँ।

साम्यवादी को किसी साधन का परहेज नहीं होता, वरन् उसे हिन्सा में विश्वास होता है; उसे सब प्रकार के हथियार, सामान और कारखाने आदि चाहिएँ, और इनकी सार-संभार और वृद्धि के लिए उसे पैसे या पूँजी की जरूरत होनी स्वाभाविक ही है। इस तरह वह अपने आप को पूँजीवाद का विरोधी कहते हुए भी पूँजी-प्रेमी होता है।

(३) सर्वोदयी को अपने आत्मिक विकास के लिए विविध व्रत या नियम पालन करने होते हैं। महात्मा गाँधी के बताये ग्यारह व्रतों का वर्णन पहले किया जा चुका है।

साम्यवादी इनमें से केवल अपरिग्रह और अस्तेय को मानते हैं, ब्रह्मचर्य की उन्हें परवाह नहीं, सत्य का उन्हें कोई बन्धन नहीं। शरीर-श्रम उनकी निगाह में बुरा नहीं, पर उसकी बौद्धिक श्रम से अधिक प्रतिष्ठा नहीं, कम ह है। अस्वाद को वे बुद्धूपन समझते हैं। अभय ठीक है। धर्म कोरा पाखण्ड या मादक पदार्थ है। अस्पृश्यता उन्हें ध्यान देने योग्य नहीं जचती। स्वदेशी की बात दकियानूसी है; वे सादगी, स्वावलम्बन और विकेन्द्रीकरण का मजाक उड़ाते हैं।

(४) साम्यवाद यह मानकर चलता है कि समाज में दो जुदा-जुदा स्वार्थ वाले वर्ग हैं, जिनमें संघर्ष होना स्वाभाविक है। शोषित वर्ग अर्थात् सर्वहारा दल को यह अधिकार है कि वह शोषक (पूँजीपति) या शासक वर्ग का क्रान्ति द्वारा अन्त करके अपनी सत्ता कायम कर ले। इसमें हिन्सक क्रान्ति को खुला

खेलने का पूरा अवसर है। इसके विरुद्ध, सर्वोदय यह विश्वास करता है कि हरेक मनुष्य में सत्प्रवृत्ति होती है, किसी में कम और किसी में ज्यादा। वह चाहता है कि मनुष्य की सत्प्रवृत्ति को, सारी सृष्टि में अपनापन अनुभव करने की भावना को, जगाया जाए। यह कार्य अहिन्सा, प्रेम और सेवा से ही हो सकता है। उसका तरीका सत्याग्रह का तरीका है, हिन्सा का नहीं। वह हृदय-परिवर्तन में विश्वास करता है, और संघर्ष, दमन या शारीरिक बल के प्रयोग को त्याज्य मानता है।

(५) सर्वोदयी को आर्थिक समानता आदि का उद्देश्य प्राप्त करने के लिए राजसत्ता की प्रतीक्षा में बैठे रहना नहीं पड़ता। वह अपना कर्त्तव्य प्रत्येक अवस्था में, और अकेला भी आरम्भ कर देता है।

इसके विरुद्ध, साम्यवादियों के कार्य करने का अवसर तब आता है, जब उनके मतवालों की सरकार स्थापित हो जाए, सारा समाज उनके मत को अपनाले।

म० गाँधी : सच्चे कम्यूनिस्ट—म० गाँधी ने रचनात्मक कार्यकर्ताओं के सम्मेलन में कहा था—'साम्यवादियों और समाजवादियों का कहना है कि आज वे आर्थिक समानता को जन्म देने के लिए कुछ नहीं कर सकते। वे उसके लिए प्रचार भर कर सकते हैं। इसके लिए लोगों में द्वेष या बैर पैदा करने और उसे बढ़ाने में उनका विश्वास है। उनका कहना है कि राजसत्ता पाने पर वे लोगों से समानता के सिद्धान्त पर अमल करवाएँगे। मेरी योजना के अनुसार राज्य प्रजा की इच्छा को पूरी करेगा, न कि लोगों को हुक्म देगा या अपनी आज्ञा जबरन उन पर लादेगा। मैं घृणा से नहीं, प्रेम की शक्ति से लोगों को अपनी बात समझाऊँगा और अहिन्सा के द्वारा आर्थिक समानता पैदा करूँगा। मैं सारे समाज को अपने मत का बनाने तक रुकूँगा नहीं, बल्कि अपने पर ही यह प्रयोग शुरू कर दूँगा। इसमें जरा भी शक नहीं कि अगर मैं ५० मोटरों का तो क्या, १० बीघा जमीन का भी मालिक होऊँ तो मैं अपनी कल्पना की आर्थिक समानता को जन्म नहीं दे सकता। उसके लिए मुझे गरीब बन जाना होगा। यही मैं पिछले पचास सालों से या उससे

भी ज्यादा वक्त से करता आया हूँ। इसलिए, मैं कट्टर कम्यूनिस्ट होने का दावा करता हूँ।'*

सर्वोदयी व्यवहार की आवश्यकता—इससे सर्वोदय और साम्यवाद के अन्तर का विचार सहज ही किया जा सकता है। हमें सर्वोदय की विशेषता दिखाने के लिए विशेष तर्क-वितर्क करने की जरूरत नहीं। मुख्य बात है, इस मार्ग पर चलने की। आदमी शुद्ध हृदय से, लोकसेवा के भाव से, इसे अमल में लाएँ। इस विषय में श्री मश्रूवाला की आगे लिखी चेतावनी का ध्यान रखना आवश्यक है—

'अगर गाँधी जी का मार्ग सचमुच अमली तौर पर और पूरी ईमानदारी के साथ नही अपनाया जाता तो साम्यवाद भारत में आकर ही रहेगा। उसका आना अनिवार्य है, क्योंकि आधी जागी हुई, गम्भीर तथा लोकपक्षी नेताविहीन जनता के पास इस अन्धेर और अव्यवस्था का विरोध करने के लिए, जो लोकशाही और सुनियन्त्रित विकास के नाम पर आज चल रही है, कोई दूसरा रास्ता नहीं।' †

विविध देशों द्वारा समर्थन—पूर्वी और पश्चिमी सभी देशों के विचारकों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ है। वे अपने-अपने क्षेत्र में इसके सम्बन्ध में विविध-कार्य कर रहे हैं। पिछले दिनों नैतिक पुनरुत्थान आन्दोलन के प्रवर्तक डा० बुशमेन अपने साथ दो सौ प्रतिनिधियों को लेकर भारत आये थे। उन्होंने इस विचारधारा में अपना विश्वास प्रकट किया था। और लोगों से हृदय-परिवर्तन, सेवा और त्याग की नीति अपनाने के लिए अनुरोध किया था। दिल्ली में होने वाले 'गाँधी-सेमीनार' में देश-विदेश के विविध विचारकों ने गाँधी-मार्ग की प्रशंसा करते हुए यह मत प्रकट किया था कि वर्तमान संकट से बचने के लिए यही एकमात्र सफल मार्ग है।

---

* 'हरिजन सेवक', ३१-३-४६

† 'गाँधी और साम्यवाद'

हमारा कर्तव्य कार्य—क्या यह बात हमें ठीक जचती है ? क्या हम हिंसात्मक मार्ग से बचना चाहते हैं ? तो फिर हमें उसके लिए यथेष्ट कीमत चुकानी चाहिए। जैसा कि श्री मश्रूवाला ने कहा है, 'हम अपनी इच्छा से एक क्रम के अनुसार आज का जीवन बदलते जाएँ। दर्जा, जाति, छूआ-छूत आदि को मिटा देना चाहिए। प्रान्तीयता और साम्प्रदायिकता को क्षीण कर देना चाहिए। राष्ट्रीयता में खुदगर्जी, लड़ने की हवस, साम्राज्य बढ़ाने की लालसा आदि का लेश भी नहीं होना चाहिए। रहनसहन के ऊँचे से ऊँचे और नीचे से नीचे स्तरों का भेद बहुत बड़ी हद तक कम हो जाना चाहिए। और, लोकतन्त्र के मौजूदा दिखावे की जगह सच्चा लोकतन्त्र स्थापित होना चाहिए। सरकार के न्याय और शासन तन्त्र में जल्दी काफी नैतिक सुधार दीखना चाहिए और, लोगों तथा सरकारी कर्मचारियों में आज के गैर-जिम्मेदारी भरे बरताव की जगह शुद्ध कर्त्तव्यनिष्ठा की भावना आनी चाहिए। वे सब परिवर्तन भी एकदम गाँधी जी के आदर्श तक नहीं पहुँचा देंगे, लेकिन ये वहाँ पहुँचने की अभीष्ट सीढ़ियाँ तो हैं।'

विशेष वक्तव्य—पहले कहा गया है कि मानव प्रगति के अनेक स्थूल और आश्चर्यजनक प्रमाण मिलने पर भी मनुष्य जाति अपने को सुखी अनुभव नहीं कर रही है। इसका कारण यह है कि हमारी समाज-व्यवस्था, आर्थिक-राजनैतिक संगठन ठीक नहीं है। पिछले पृष्ठों में विविध समाज-व्यवस्थाओं का विचार करते हुए हमें यह विश्वास हो गया है कि वर्तमान संकट से बचने और मानव का भविष्य सुधारने का एकमात्र मार्ग सर्वोदय है। उसके सम्बन्ध में हमारा क्या कर्तव्य है, यह ऊपर बताया जा चुका है। आवश्यकता है कि हम धैर्य और दृढ़तापूर्वक उस दिशा में एक-एक कदम बढ़ते जाएँ।

यहाँ हम पाठकों का ध्यान एक खास बात की ओर दिलाना चाहते हैं। जब हम यह कहते हैं कि समाजवाद और साम्यवाद में ये कमी हैं या इनकी अपेक्षा सर्वोदय में अमुक विशेषताएँ हैं तो हम इस समय के अधिकांश

समाजवादियों और साम्यवादियों के वर्तमान रवैये को सामने रख कर ही ऐसी बात कहते हैं। अन्यथा हमें याद रखना चाहिए कि एक ओर म० गाँधी ने कहा है कि मेरे 'समाजवाद का अर्थ है सर्वोदय' और 'मैं कट्टर कम्यूनिस्ट होने का दावा करता हूँ; दूसरी ओर प्रजा समाजवादी नेता श्री जयप्रकाश नारायण का कथन है कि 'सर्वोदय ही सच्चा समाजवाद है।' इससे स्पष्ट है कि वास्तव में समाजवाद, साम्यवाद और सर्वोदय एक दूसरे से पूरे तौर पर जुदा नहीं हैं। सबका उद्देश्य एक ही है। अच्छे नेकचलन, सेवाभावी और स्वार्थत्यागी सज्जन समाजवाद और साम्यवाद को भी सर्वहितकारी (सर्वोदय) बना सकते हैं, और शब्दों पर झगड़ने वाले, अविवेकी, अन्धविश्वासी आदमियों के हाथ में जाकर सर्वोदय की भी दुर्गति हो सकती है।

इस बात पर ध्यान देने की खास जिम्मेवारी अपने आपको सर्वोदयी कहने वालों की है कि वे सर्वोदय को कोई अलग वाद न बनाएँ। मानव समाज में दुर्भाग्य से पहले ही काफी दल या पार्टियाँ हैं, सर्वोदय समाज कोई नया दल न हो। वह सब के शुभ कार्यों में सहयोग दे, और सब लोकहितैषियों को अपना माने और उनका स्वागत करे। अन्त में नाम चाहे जो रहे, समाजवाद, साम्यवाद और सर्वोदय सबको आपस में मिलना है, और मानवता का, विश्व का, कल्याण करना है। शुभम्

———

परिशिष्ट

[१]

सर्वोदय के सिद्धान्त

[१] सर्वोदय समाज-रचना की नींव हमें नीति और धर्म पर डालनी चाहिए। सत्य और अहिंसा हमारे सिद्धान्त होंगे। सर्वोदय में स्वाभाविक ही सेना के लिए स्थान नहीं रहेगा। निःशस्त्रीकरण में हमारे देश को पहला कदम उठा कर गांधी जी की विरासत के योग्य बनना चाहिए।

[२] आर्थिक समानता। जमीन या उत्पादन के दूसरे साधनों पर व्यक्तिगत मालिकी नहीं हो सकती। जिनकी काम करने की इच्छा हो, उन्हें पर्याप्त उत्पादक काम मिलते रहना चाहिए। उसके बदले में उन्हें उचित मेहनताना भी मिलना चाहिए।

[३] ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त। समाज द्वारा मान्य मिल्कियत की अपेक्षा जिनके पास अधिक जायदाद हो, वे उसके ट्रस्टी बनें; अर्थात् उस जायदाद का उपयोग अपने लिए न करके समाज के हित के लिए करें। कोई व्यक्ति अपनी अधिक जायदाद का इस प्रकार ट्रस्टी बनने को तैयार न हो तो जनता इस जायदाद के उपभोग में उसका साथ न दे। जनता के सहयोग के बिना कोई भी व्यक्ति जायदाद का उपभोग नहीं कर सकता।

[४] सामाजिक ऊँच-नीच के भेद का अभाव। धर्म, जाति या जमात के कारण कोई भी आदमी दूसरे से ऊँचा या नीचा नहीं माना जा सकता। ऊँच व नीच के भेदभाव और अस्पृश्यता के कलंक वाली जाति-व्यवस्था सर्वोदय में नहीं होगी। बल्कि इसमें तो सारे ही वर्ण समान समझे जायं, ऐसे वर्णाश्रम धर्म को जीवित करने का प्रयत्न किया जायगा।

[५] ज्ञान-प्राप्ति का सबको समान मौका मिलेगा। शिक्षण-शास्त्र में आजकल चल रहे नये-नये प्रयोगों के कारण किसी भी व्यक्ति को शिक्षा के लिए अयोग्य नहीं ठहराया जा सकेगा। शिक्षा को सार्वत्रिक करने के लिए नयी तालीम सुन्दर से सुन्दर साधन है।

[६] जैसे प्रत्येक व्यक्ति को वाजिब मेहनताना मिलना चाहिए, वैसे ही प्रत्येक वस्तु का भाव भी वाजिब होना चाहिए।

[७] समाज-व्यवस्था शासन-मुक्त, शोषण-रहित और समता-युक्त होनी चाहिए।

[८] उसके लिए अर्थ-रचना और साथ ही राज्य रचना को विकेन्द्रित कर डालना चाहिए। उसकी छोटी से छोटी इकाई हमारा गाँव होगा। आर्थिक दृष्टि से वह स्वावलम्बी और बहुत कुछ अंशों में वह स्वयंसम्पूर्ण होगा। राजकीय क्षेत्र में वह स्वतंत्र प्रजासत्ताक होगा।

[९] अर्थव्यवस्था में खेती, ग्रामोद्योग मुख्य होने चाहिएँ।

[१०] समाज को धननिष्ठ नहीं, श्रमनिष्ठ होना चाहिए।

—नरहरि परीख

['सर्वोदय' जुलाई १९५४ एक भाषण का सार]

[२]

सर्वोदय का सन्देश

"इस छोटी सी जिन्दगी में हम कसौटी पर हैं। इस संसार में जो कुछ थोड़े दिन हमें रहना है, उनमें सबकी सेवा तथा सबका प्रेम हासिल करने की कोशिश करनी चाहिए। जिन्होंने इस दुनिया में आकर पैसा कमाया, लेकिन प्रेम गंवाया, उन्होंने कुछ भी नहीं कमाया। जिन्होंने ज्ञान हासिल किया मगर सबका प्रेम हासिल नहीं किया उन्होंने कुछ भी हासिल नहीं किया। जिन्होंने

शक्ति सम्पादन की, पर सबका प्रेम सम्पादन नहीं किया, उन्होंने कुछ भी सम्पादन नहीं किया। इसलिए भाइयो सबसे प्रेम करो और सबका प्रेम हासिल करो, यही सर्वोदय समाज का संदेश है।" —विनोबा

[३]

सर्वोदय का सूत्र

प्रश्न : 'भूदान मूलक, ग्रामोद्योग प्रधान, अहिंसात्मक क्रान्ति के लिए जीवन समर्पण,' इस सूत्र का स्पष्टीकरण क्या है ?

उत्तर : इस सूत्र की रचना को समझ लेना जरूरी है। यह चार पद का सूत्र है। पहला पद 'भूदान यज्ञ' इसकी नींव है। अंतिम पद क्रान्ति है, जिसमें समाज की नवरचना का उद्देश्य है। हमारी समाज-रचना का स्वरूप और उसका साधन बनाने वाले ही पद बीच में है। हमारी समाज-रचना ग्रामोद्योग प्रधान होगी। 'प्रधान' कहने से गौण रूप में दूसरी बातें भी उसमें आ जाती हैं। हमारी क्रान्ति का साधन अहिंसा होगी। इसी को सत्याग्रह भी कहते हैं। इसके चार अंग हैं।

१—कष्ट सहन करना या तपस्या,

२—विचार प्रचार,

३—नयी तालीम,

४—पाप या अन्याय के साथ असहयोग।

—विनोबा

सर्वोदय ग्रन्थमाला

(१) **सर्वोदय अर्थशास्त्र**—सर्वोदय की दृष्टि से अर्थशास्त्र की रूप-रेखा। संसार में सुख शान्ति चाहने वाले राजनीतिज्ञों, अध्यापकों और पाठकों के लिए बहुत आवश्यक। ४)

(२) **सर्वोदय अर्थव्यवस्था**—पूंजीवादी और साम्यवादी अर्थ-व्यवस्थाओं की अपेक्षा सर्वोदय अर्थव्यवस्था की श्रेष्ठता का सुन्दर विवेचन। १॥)

(३) **हमारा अर्थशास्त्र कैसा हो ?**—अर्थशास्त्र में सर्वोदय दृष्टिकोण रखने की आवश्यकता का विचार। ।)

(४) **सर्वोदय राज; क्यों और कैसे ?**—स्वदेशी राज्य होने पर भी वास्तविक स्वराज्य नहीं हुआ। सर्वोदय राज की रूप-रेखा देखिए और विचार कीजिये। दूसरा संस्करण। ।≈)

(५) **मानव संस्कृति**—संस्कृति क्या है, इसके विविध पहलू कौन-कौन से हैं। इसका विकास किस तरह होता है, विविध देशों ने इसमें क्या योग दिया है ? इन प्रश्नों का सुन्दर विचार। २॥)

(६) **समाजवाद, साम्यवाद और सर्वोदय**—मानव प्रगति में पूंजीवाद, समाजवाद, अराजवाद, फासिस्टवाद, नाजीवाद तथा साम्यवाद का भाग; और सर्वोदय की विशेषता। दूसरा संस्करण। ॥)

( ) **मेरा जीवन; सर्वोदय की ओर**—श्री भगवानदास केला के जीवन की झांकी और सर्वोदय साहित्य की ओर झुकाव तथा सर्वोदय यात्रा आदि का वर्णन। दूसरा संस्करण। ।−)

(८) **सर्वोदय; दैनिक जीवन में**—खानपान, पहनावे, खेती, उद्योग-धन्धे, शिक्षा और चिकित्सा आदि में सर्वोदय जीवन की बात। ।≈)

(९) **सर्वोदय राजव्यवस्था**—सन् १९५४ के अन्त में छपेगी।

मुद्रक : आर० सी० वारश्नी, वारश्नी प्रेस, प्रयाग।

हमारी कुछ पुस्तकें

भारतीय शासन	(बारहवाँ संस्करण)	३)
हमारी राष्ट्रीय समस्याएँ	(बारहवाँ सं०)	१॥।)
भारतीय सहकारिता आन्दोलन	(चौथा सं०)	१॥)
भारतीय जागृति	(पांचवाँ सं०)	२॥)
भारतीय राजस्व	(तीसरा सं०)	३)
राजनीति शब्दावली	(चौथा सं०)	२॥)
राष्ट्रमंडल शासन	(चौथा सं०)	१॥)
अर्थशास्त्र शब्दावली	(चौथा सं०)	२)
कौटल्य के आर्थिक विचार	(चौथा सं०)	१॥)
अपराध चिकित्सा	(दूसरा सं०)	२॥)
भारतीय अर्थशास्त्र	(पाँचवाँ सं०)	५)
साम्राज्य और उनका पतन	(दूसरा सं०)	२॥)
नागरिक शास्त्र	(तीसरा सं०)	२।)
विश्व-संघ की ओर	(दूसरा सं०)	३)
भावी नागरिकों से	(दूसरा सं०)	१॥)
मनुष्य जाति की प्रगति	(दूसरा सं०)	३॥)
हमारी आदिम जातियाँ		३॥)
मेरा साहित्यिक जीवन		३)
सर्वोदय अर्थशास्त्र		४)
सर्वोदय अर्थव्यवस्था		१॥)
हमारा अर्थशास्त्र कैसा हो ?		।)
सर्वोदय राज, क्यों और कैसे ?	(दूसरा सं०)	॥=)
मानव संस्कृति		२॥)
समाजवाद, साम्यवाद और सर्वोदय	(दूसरा सं०)	।॥)
मेरा जीवन, सर्वोदय की ओर	(दूसरा सं०)	।-)
सर्वोदय, दैनिक जीवन में		।=)

भारतीय ग्रन्थमाला, दारागंज, प्रयाग